ॐ

देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम्

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथाः।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं
परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेशहरणम्।।१।।

विधेरज्ञानेन द्रविणविरहेणालसतया
विधेयाशक्यत्वात् तव चरणयोर्या च्युतिरभूत्।
तदेतत्क्षन्तव्यं जननि सकलोद्धारिणि शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।२।।

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।३।।

जगन्मातर्मातस्तव चरणसेवा न रचिता
न वा दत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत् प्रकुरुषे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।।४।।

परित्यक्ता देवा विविधविधसेवाकुलतया
मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि।
इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता
निरालम्बो लम्बोदर जननि कं यामि शरणम्।। ५।।

श्वपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा
निरातङ्को रङ्को विहरति चिरं कोटिकनकैः।
तवापर्णे कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदं
जनः को जानीते जननि जपनीयं जपविधौ।।६।।

चिताभस्मालेपो गरलमशनं दिक्पटधरो
जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः।
कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीं
भवानि त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्।।७।।

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिवशिव भवानीति जपतः।।८।।

नाराधिताऽसि विधिना विविधोपचारै:
किं रूक्षचिंतनपरैर्न कृतं वचोभि:।
श्यामे त्वमेव यदि किंचन मय्यनाथे
धत्से कृपामुचितमम्ब परं तवैव ।।९।।

आपत्सु मग्न: स्मरणं त्वदीयं
करोमि दुर्गे करुणार्णवेशि।
नैतच्छठत्वं मम भावयेथा:
क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति।।१०।।

जगदम्ब विचित्रमत्र किं, परिपूर्णा करुणास्ति चेन्मयि।
अपराधपरम्परापरं,न हि माता समुपेक्षते सुतम्।।११।।

मत्सम: पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु।।१२।।

****

ॐ

देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम्

अपराध-क्षमापन, 'राध' का मतलब सेवा; आराधना अर्थात् ठीक ढंग से सेवा। अपराधना अर्थात् गलत ढंग से सेवा, अपकर्ष कराने वाली जो सेवा वही अपराध कही जाती है। सनातन धर्म में एक ही परमात्मा है। इसलिये जीवमात्र परमात्मा की ही सेवा कर रहा है, कोई आराधना कर रहा है तो कोई अपराधना; कोई, भगवान् ने जो विधान किया कि 'ऐसा करो' वह करते हुये कोई उसकी आराधना कर रहा है, और भगवान् ने जिस सबको 'मत करो' कहा है, उसे करते हुये कोई अपराधना कर रहा है। यदि अपराध हो ही नहीं, तो जो निषेध किये हैं उनका ज्ञान ही न हो पायेगा ! झूठ बोला जाता है, 'तभी झूठ मत बोलो' इस का अर्थ समझा जाता है। 'हिंसा मत करो'; हिंसा का पता कब लगे? जब हिंसा का कहीं अनुभव हो। इस प्रकार सभी लोग या जो परमात्मा ने कहा वह करते हैं या जो नहीं करने को कहा वह करते हैं। परमात्मा ने सृष्टि में नरक भी बनाये स्वर्ग भी बनाया; यदि कोई अपराध न करे तो नरक खाली पड़ जायेंगे! इसलिये पुराणों में कथायें आती हैं -

किसी राजा ने जबरदस्ती लोगों से विशेष प्रकार के धर्मकार्य कराने शुरू कर दिये, फलस्वरूप सब स्वर्ग जाने लगे। यमराज ने आकर भगवान् से प्रार्थना की 'नरक खाली हो गये हैं, मेरी छुट्टी करिये'। भगवान् ने देखा कि एक धर्म के महत्त्व के प्रभाव से लोग अन्य आचार आदि के प्रति प्रमादी हो रहे हैं क्योंकि उन अपराधों के दण्ड स्थगित हो गये हैं अत: माया से ऐसा करने को कहा कि लोगों की उस धर्मविशेष से दृष्टि हट जाये। अपराध करने वाले, नरक जाने वाले भी परमात्मा की लीला का ही अंग हैं। अपराध हम स्वभाव से करते हैं। आराधना स्वभाव से नहीं, प्रयत्न से करते हैं। जैसे, बढ़िया माल, दाल का सीरा, आलू की टिक्की सामने आये तो हमें खाना चाहने का कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। पथ्य खाना हो तो उसकी इच्छा स्वत: नहीं होती, अत्यधिक प्रयास से होती है। इसी तरह अपराध करने के लिये शिक्षा की ज़रूरत नहीं, वह तो हमारे संस्कार-प्रवाह में है, पर आराधना करने को शिक्षा की, समझ की, बुद्धि की, नियंत्रण की जरुरत है।

जब मनुष्य अपराध कर के नरक जाता है तब सोचता है 'बहुत अपराध कर लिये, अब मुझे स्वर्ग चाहिये'। जब यह मन में आता है तब वह अपराध से आराधना की तरफ जाता है। उस समय अपराधों के संस्कारों के कारण अपराधों में भी प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे, बच्चे का जनेऊ होता है तो बचपन के संस्कारवशात् सुबह आँख खोलते ही खाना माँगता है। माँ कहती है 'तेरा जनेऊ कल हो गया, पहले नहा-धोकर संध्या कर'। जब संस्कार दृढ हो जाते हैं तब किसी को कुछ कहना नहीं पड़ता। दस बीस साल हो गये। दो दिन बुखार आ गया, तीसरे दिन बुखार टूटा, भूख खुली, प्रात: कुछ खाने की इच्छा होती है, पर नियंत्रण इतना रहता है कि जब तक नहा-धो कर संध्या न कर ले, नहीं खायेगा। जीव की यात्रा में यह बीच का काल है जब अपराध के प्रबल संस्कारों से कदाचित् ग़लत प्रवृत्ति भी होती है और यत्नपूर्वक आराधना में प्रवृत्ति करता ही है। यह वह काल है जब मनुष्य परमात्मा से अभेद चाहता है। जब आराधना के संस्कार दृढ हो जाते हैं तब अपराध तो नहीं करता है, पर पूर्व-अपराधों की स्मृति आती है तो लगता है 'जन्मान्तरों में अपराध ही अपराध किये हैं, आराधना तो अब शुरु की है'। तब अपराधों के

दोषों की निवृत्ति के लिये परमात्मा से क्षमा चाहता है।

क्षमा मायने 'सहन करना'। सहनशील होने से ही पृथ्वी का एक नाम है क्षमा। पृथ्वी हमारे सब अपराधों को क्षमा करती है। हमारा पार्थिव शरीर पृथ्वी से उत्पन्न हुआ है, पृथ्वी के सहारे रहता है, और अन्त में पृथ्वी में मिल जाता है। पृथ्वी ही इसका उपादान कारण है। भगवान् भृगु ने अपना पहला अनुभव बताया - अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न में स्थित रहते हैं, और अन्त में अन्न में लीन हो जाते हैं। अन्न पृथ्वी का विकार ही है, पार्थिव है। प्रत्यक्ष में भी अन्न खाने को मिलता है तो शरीर रहता है, अन्यथा दस-बीस-पचास दिन में प्रयाण कर लेता है ! शरीर जल कर भी राख हो जाता है। माता-पिता के खाये अन्न से बने शुक्र-शोणित से शरीर प्राप्त होता है, यह प्रत्यक्ष है। हम जितने भी अपराध पृथ्वी के प्रति करेंगे, शरीर से ही करेंगे, चाहे ज़ोर से चलें, चाहे पृथ्वी में छेद करें। विचार करो, अपने को कोई सूइ चुभा दे तो कितना गुस्सा आता है! हम पृथ्वी देवता में इतने छेद करते हैं, मलमूत्र करते हैं, वह सब को क्षमा कर देती है। क्यों क्षमा कर देती है? क्योंकि हमारा उपादान कारण पृथ्वी है। इसी प्रकार हम सारे जगत् के कारण परमब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न हुये हैं, उसी में स्थित हैं व अंत में उसी में लीन हो जाते हैं। चूँकि वह हमारा उपादान कारण है अत: हमको वह क्षमा करेगा ही। जो जिससे उत्पन्न हुआ है वह उसकी तरफ जाता है तो शुद्ध हो जाता है। लोक में भी देखने में आता है, जूठे बरतन को राख से मल कर शुद्ध करते हैं। जल अशुद्ध हो जाता है तो उबाल कर शुद्ध करते हैं। अपने-अपने उपादान कारण में जाकर चीज़ शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार हम परमात्मा की आराधना करते हैं, परमात्मा की तरफ जाते हैं, तो वह हमारे अपराधों को क्षमा कर देता है। अपराध ही हमें परमात्मा की तरफ नहीं जाने देते हैं, जैसे ही हम परमात्मा की तरफ जाते हैं वैसे ही अपराधों का क्षमापन हो जाता है। वैदिक परमात्मा 'बदला लेने वाला नहीं है'। और धर्मोंवाले मानते हैं कि तुमने अपराध किया है तो परमात्मा खूब दण्ड देगा। हम कहते हैं, परमात्मा चाहता है कि हम अपराध से आराधना की तरफ आ जायें। दण्ड देने में उसका उद्देश्य सुधार है, बदला लेना नहीं। हम सुधर जायें तो फिर दण्ड नहीं मिलता।

जो अपराध आराधना की तरफ जाने वाले व्यक्ति से पूर्वसंस्कारवशात् हो जाते हैं व जो पूर्व में अपराध हो चुके हैं, उनके क्षमापन के लिये इस स्तोत्र में देवी की स्तुति की गई है। जैसा हमें अनुभव हुआ है तदनुकूल ही सोच सकते हैं, सर्वथा जिसका अनुभव नहीं उसके बारे में कुछ भी नहीं सोच सकते हैं। यदि बचपन में जिसके पिता उसके प्रति कठोर रहते हैं उसके मन में दृढ संस्कार बना रहता है कि पिता बड़े कठोर होते हैं। यदि हमने अपराध किया और पिता क्षमा कर देते हैं, तो हमारे मन में दृढ संस्कार रहता है कि पिता क्षमाशील होते हैं। 'पिता' - शब्द सुनते ही दोनों का अर्थभान अलग होगा। आस्तिक जैसे ही 'काशी' - शब्द सुनता है, भगवान् विश्वनाथ की मुक्ति-नगरी उपस्थित होती है जहाँ मरने से मोक्ष प्राप्त होता है। फटा वस्त्र पहनना पड़े, चना चबैना भी न मिले, तो भी वही गंगाजल याद आता है। नास्तिक सुनेगा तो उसे काशी के गुण्डे याद आयेंगे! उसे मणिकर्णिका पर आधे-जले शव याद आयेंगे। नास्तिक और आस्तिक को 'काशी' सुनते ही अलग-अलग अर्थ याद आते हैं। अपने-अपने अनुभवों के आधार पर चिन्तन होता है। प्राय: भारतीय संस्कृति में माता अत्यन्त दयालु होती है, घर के वातावरण में पिता कठोर दण्ड देने वाले होते हैं। पहले पिता अपने बेटे से बात तक नहीं करता था, गोद में लेना तो दूर की बात है। पिता पुत्र के प्रति दूसरे ढंग का व्यवहार करता था, माता का व्यवहार भिन्न होता था। माँ हर परिस्थिति में संतान का ही पक्ष लेती थी, चाहे जितनी ग़लती क्यों न करे। माता शब्द सुनते ही हमें दया, करुणा, वात्सल्य, प्रेम ये सब याद आते हैं। अत: क्षमा माँगनी हो तो भगवान् के मातृरूप का स्मरण जल्दी होता है। अत: इस स्तोत्र में मातृरूपवाले परमात्मा से क्षमायाचना की जा रही है। देवी से अपराध- क्षमापन के लिये क्षमायाचनापूर्वक स्तुति की जा रही है।

सबसे पहले स्मरण करते हैं कि क्या-क्या मुझ में नहीं है

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथा:।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं
परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेशहरणम्।।१।।

मन्त्र, यन्त्र, स्तुति, आह्वान, ध्यान, कथा, मुद्रा व प्रेम से बिलखना - इनमें से कोई कार्य मैं नहीं जानता हूँ। हे माता ! इतना ही जानता हूँ कि आपका अनुसरण क्लेश का हरण कर देता है।

परमात्मा की आराधना में प्रवृत्त होने के लिये आवश्यक साधनों का हमें कुछ ज्ञान नहीं है। जब तक हृदय में पूर्ण विनय नहीं होगी हम क्षमा माँग ही नहीं सकते। जब तक अपने अंदर योग्यता का अभिमान है तब तक क्षमा माँग ही नहीं सकते। एक विद्वान् आचार्य थे। वृद्धावस्था थी, मुँह से ग़लत शब्द निकल गया। सबने पूछा 'क्या यह शब्द व्याकरण से सिद्ध होता है'? वे बोले - 'हाँ। अनेक व्याकरण हैं। जो तुमने पढ़ा है उससे नहीं सिद्ध होता है'। लोगों ने पूछा 'किस व्याकरण से सिद्ध होता है'? उन्होंने कहा 'मंगवाना पड़ेगा, दस दिन लगेंगे'। दस दिनों में उन्होंने नया व्याकरण ही लिख दिया! समय होने पर सबको बताया 'इससे वह शब्द सिद्ध होता है'। जब तक मनुष्य में सामर्थ्य का बोध रहता है तब तक वह क्षमा माँग नहीं सकता। जब मनुष्य में विनय आती है कि 'मेरे में योग्यता कुछ है ही नहीं', वही क्षमाप्रार्थी होगा। जिसमें विनय न होगी वह कहेगा 'मन्त्राधीना हि देवता'। किन्तु जब विनय का भाव आता है तब स्तुति, क्षमा माँगना संभव और स्वाभाविक होता है। अत: यहाँ आराधना के सब साधनों को गिना कर कहते हैं - 'मेरे अंदर कोई शक्ति नहीं है अत: मैं क्षमा माँगता हूँ'।

जितना अधिक ज्ञान होता है उतना ही अधिक पता चलता है कि मैं कितना नहीं जानता। मोमबत्ती का हल्का प्रकाश होता है। मोमबत्ती की कितनी परिधि में तुम्हें अँधेरा नहीं दीखेगा? पॉच मीटर तक यदि उसकी रोशनी जाती है तो उसके आगे अंधेरा ही दीखता है। अर्थात् तुम्हें पता चलता है कि पाँच मीटर तक अँधेरा था। आगे कितना अंधेरा है - यह तो पता नहीं। अगर मोमबत्ती दुगुनी ताकत की हो तो दस मीटर तक रोशनी जाती है। तब पता चलता है कि उतना अंधेरा था। प्रकाश के ज्ञान से अंधकार के परिमाण का ज्ञान होता है। इसी प्रकार, मनुष्य का जितना-जितना ज्ञान बढ़ता है उतना-उतना उसे पता लगता है कि

अज्ञान की परिधि कितनी बड़ी है! जिसने कभी विज्ञान नहीं पढ़ा, उसे लगता है कि बहुत पता है। जब 'एम एस सी' में पहुँचता है तब पता लगता है कि विद्यालय में जो-जो चीजें पढ़ाई थीं उनमें क्या-क्या गलतियाँ हैं। भर्तृहरि कहते हैं - जब मैं कम जानता था तब हाथी जैसा फूलता था कि 'मेरे जैसा कोई ज्ञानी नहीं'। जब शास्त्रों का ज्ञान हुआ तब पता चला कि मुझ जैसा कोई मूर्ख नहीं है! इसी प्रकार जो मन्त्र-शास्त्र जानता है उसे पता है कि सात करोड़ तो महामन्त्र हैं ! यदि दस हज़ार भी किसी को आते है तो क्या हुआ? 'मन्त्र नहीं जानता' - इसका तात्पर्य यह नहीं कि 'मैं कोई मंत्र भी नहीं जानता' पर यह कि 'अपने ज्ञान की सीमा जानने से मुझे पता है कि मुझे कितना कुछ नहीं आता'। इस तरह विनय से माँगना संभव होता है। विद्वान ही समझ पाता है कि कैसी-कैसी भूलें होती हैं, अज्ञान कितना विशाल है। इसी दृष्टि से यहाँ कहा 'मैं कुछ नहीं जानता'।

सबसे पहले कहा - मैं मन्त्र को नहीं जानता। देवता अनेक रूप धारण करते हैं। नामात्मक, वर्णात्मक होने के कारण मन्त्ररूप सबसे सरल है। मन्त्र का अर्थ है --

'मननाद विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात्।
यत: करोति संसिद्धिं मन्त्र इत्युच्यते तत:।।'

मन्त्र वह होता है जिसका हम बार-बार विचार करें तो जितना भी परमात्मविषयक विज्ञान है सब उसमें से निकल आये। परमात्मा के विषय में समग्रता से बतानेवाला मन्त्र होता है। पद्मपादाचार्य ने 'नम: शिवाय' मन्त्र की व्याख्या लिखी है। वेदान्त की, परमात्मा की, प्रपत्ति की सारी बातें उसमें हैं। विश्वविज्ञान होगा कब? जब मंत्र का मनन किया जाये। जिसने मनन नहीं किया है उसे जब तक अर्थ का भान नहीं होता तब तक लगता है 'ये जबरदस्ती के अर्थ हैं'! उसे जितना समझ आता है उतने को ही ठीक, सच्चा अर्थ मानता है। चट्टान में किसी को राक्षस का मुख, अग्निकुण्ड, भालू या हनुमान् की प्रतीति हो गई; जिसे जो चीज़ पहले प्रतीत हो गई उसे लगता है कि वह ही ठीक है। वास्तव में वह चट्टान है, न राक्षस का मुख है, न भालू आदि है पर पहले जो लग गया और लम्बे समय तक जिसे देखते रहे, वही सच्चा प्रतीत होने

लगता है। इसी प्रकार, सारे वैदिक मन्त्रों का रहस्य है: उसी मन्त्र में किसी को परमात्मा की तो किसी को देवता की प्रतीति होती है, ज्योतिषी को किसी ज्योतिष सम्बन्धी चीज़ की प्रतीति होती है। विद्वान होता जानता है कि सारे अर्थ वहाँ निहित हैं। मंत्र का मनन करने से परमात्म-विषयक सारा अर्थ निकलता है। संसार में कर्ता-भोक्तापना रूप बन्धन का जो अनुभव है, उसे वह विश्वविज्ञान काटता है। वेदादि शास्त्रों का उद्देश्य तो तुम्हें मुक्त करना है। यह बात ठीक है कि सब सीधे ही मुक्ति के अधिकारी नहीं हैं। किसी की १९ साल की लड़की है, ब्याह नहीं हो रहा है। उसे जितना कहो 'भगवती का ध्यान करो', वह कहता है 'जैसे ही भगवती का चित्र देखकर ध्यान करने बैठता हूँ वैसे ही जवान लड़की की याद आ जाती है'। ध्यान लगता नहीं। पर श्रद्धा भक्ति से प्रयास करता रहता है तो भगवती के हृदय में दया आती है, कह देती है 'जा, विवाह हो जायेगा'। हो भी जाता है। भगवती को विवाह से क्या लेना-देना! उसका तो मतलब है कि लड़की का विवाह हो जाये तो इस भक्त का ध्यान लगे क्योंकि लड़की के विवाह की कामना प्रतिबन्धक है, वह जब तक नहीं हटेगा, ध्यान नहीं लगेगा। अत: जिसे परमात्मा की तरफ जाने का उत्साह ही नहीं है उसकी इस तरह की कामनाओं की पूर्ति के लिये भगवान् का भी संकल्प नहीं होता, वह कर्म-फल की व्यवस्था में ही बंधा रहता है। इसी प्रकार वेदादि शास्त्र का उद्देश्य जीव को परमात्म-मार्ग में लगाना है। कुछ कामनायें रास्ते में रुकावट डालती हैं तो उनको हटाने को साधन भी शास्त्र ने बताये ताकि वे रुकावटें हटें तो जीव परमात्म-मार्ग में बढ़ सके। इसीलिये वेदों में कामना-पूर्ति के साधन बता दिये गये हैं।

मंत्र का मुख्य उद्देश्य है कि उस पर मनन करने से परमात्मा का वह ज्ञान हो जाये जो संसार से त्राण कराये। अत: मंत्र न जानने का अभिप्राय है कि मंत्र मुझे चाहे याद हों पर उसके अर्थ पर मनन करने की, उसके ज्ञान द्वारा संसार से त्राण की सामर्थ्य मेरे पास नहीं है।

देवता का वर्णात्मक आविर्भाव मंत्र है। देवता जब अपने आप को वर्णों की उपाधि के अंदर प्रकट करते हैं तब वह मंत्र होता है। इसलिये हर

मंत्र का देवता होता है। हमारा नाम देवदत्त है, 'देवदत्त' नाम में हमारा आविर्भाव है। इसीलिये कोई हमारे खिलाफ़ तांत्रिक प्रयोग करना चाहता है तो उसको हमारे नाम का ज्ञान होना चाहिये कि हमारा किस नाम में आविर्भाव है। वेदवचन के अनुसार नामकरण संस्कार में जो नाम दिया जाता है वह असली नाम है। लोक में हमारे कई नाम प्रसिद्ध हो सकते हैं पर वे असली नाम नहीं हैं जैसे 'महात्मागाँधी' इसी नाम से प्रसिद्ध हैं जबकि उनका नाम मोहनदास था, यह सबको पता नहीं। यदि तांत्रिक प्रयोग तुम्हारे विरुद्ध या अनुकूल करना है तो नामकरण वाले नाम की ज़रुरत होती है क्योंकि उसमें तुम्हारा आविर्भाव है। नाम की तरह रूप में भी आविर्भाव है। इसलिये चित्र को देखकर आदमी कहता है 'यह हमारे पिताजी हैं,' अर्थात् उस चित्र में पिताजी का आविर्भाव है। इसी प्रकार देवताओं का वर्णात्मक आविर्भाव मंत्र है, रूपात्मक आविर्भाव विग्रह या मूर्ति है। भगवती का वर्णन् करते हुये **५२** अक्षरों को उनका वर्णात्मक रूप कहा है। अ से लेकर ज्ञ पर्यन्त सारे अक्षरों का अंगाों में न्यास होता है क्योंकि अंगों से सबकी उत्पत्ति है। कोई मंत्र जप करने से पूर्व कम से कम पाँच प्रधान अंगों का वर्णन करते हैं - हृदय, सिर, शिखा, नेत्र (और कवच)। फिर देवता का अपने अंदर न्यास भी वर्णों से करते हैं। तत्तत् वर्ण उन अंगो को बताता है, अत: मंत्र साक्षात् देवता का रूप ही है। यह रूप प्रकटरूप से नहीं बतलाया जाता है, इसलिये उसे 'मंत्र' कहते हैं। लोक में भी, गुप्त बात कहने को 'मंत्रणा करना कहते हैं'। परमात्मा के नाम-रूप का संबंध गुप्त भाषण होने से

मंत्र कहा जाता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा

'मंत्ररूपो भवेद् देवो देवरूपो गुरु भवेत् ।
गुरुरूपो भवेदात्मा आत्मारूपो मनुर्भवेद्' ।।

सबसे पहले मंत्र के अंदर देव के आविर्भाव का पता लगेगा अर्थात् मंत्र और देव की एकता समझ आयेगी। फिर देव व गुरु की एकता पता चलेगी, फिर गुरु से अपनी एकता पता चलेगी। इस प्रकार अपनी उपाधि छोड़ने से मंत्र आत्मरूप हो जाता है अर्थात् देवता व गुरु के साथ उसकी एकता का ज्ञान हो जाता है। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि गुरु ही परम मंत्र है और गुरु स्वरूप ही उसका जप है। ग्रन्थों के अंदर सारे मंत्र

लिखे हैं पर जब तक गुरु से मंत्र प्राप्त न किया जाये, उसके रहस्य को समझा न जाये तब तक वह काम नहीं करता। मंत्रों के अनेक प्रकार होते हैं। एक आदमी को एक मंत्र थोड़ा-सा जप करने से सिद्धि दे देता है, ज़रूरी नहीं कि दूसरे के लिये भी वैसा सिद्धिकर हो। सिद्ध मंत्र होते हैं, अरि मंत्र भी होते हैं! शरीर के अंदर जैसे पंच महाभूत हैं, फिर भी किसी के शरीर में कोई महाभूत प्रधान होता है; किसी के शरीर में वायु का अंश ज़्यादा होता है तो पानी पीने पर भी उसका शरीर फूलता जाता है। अग्नि अंश ज़्यादा होता है तब घी पीने पर भी शरीर कमज़ोर रहता है। जलीय अंश ज़्यादा होने पर खाँसी-सर्दी बनी रहती है। पांचभौतिक शरीर होने पर भी थोडा-थोड़ा भेद हर शरीर में होता ही है। इसी प्रकार यद्यपि मन पांचभौतिक है पर किसी के अंदर किसी भाव की प्रधानता होती है, किसी में अन्य ही किसी भाव की। मंत्रजप अपनी योग्यता के अनुसार ही करने पर सफल होता है, अन्यथा नहीं। मंत्रविद्या की इस गहनता के कारण कहते हैं 'मैं मंत्र को नहीं जानता'।

'नो यंत्रम्' - यंत्र मायने देवता का अधिष्ठान अर्थात् जहाँ देवता रहता है। प्रत्येक देवता का निवास अलग है, अत: यन्त्र भी अलग-अलग हैं। आधारभूत ढंग से जैसे मंत्र का संबंध देवता, गुरु, आत्मा से बतलाया, वैसे ही यंत्र का भी संबंध होता है। शरीर के विभिन्न अवयवों को लेकर यंत्र का निर्माण होता है। यंत्र के अंदर देवता का अधिष्ठान है अत: बाद में उसे शरीर में स्थिर करना पड़ता है। वेदान्त की दृष्टि हर स्तर पर एकता लाती है। उपासक को देवता का अपने साथ ऐक्य करना पड़ता है। एकता करने से अपने अंदर के विकारों पर नियंत्रण आता है। अत: यंत्र मायने नियंत्रण। यंत्र जब अपने अंदर स्थपित करतें हैं तब अपने अंदर देवताओं का अधिष्ठान होने से आसुरी प्रकृतियों की निवृत्ति होती है। सारे दोषों का आधार काम-क्रोधादि हैं। काम-क्रोधादि से सारे दु:ख उत्पन्न होते हैं। बिना राग-द्वेष के सुख-दु:ख उत्पन्न होते नहीं। अनुकूल वेदनीयता सुख है और प्रतिकूल वेदनीयता दु:ख है। अनुकूल-प्रतिकूल का भेद राग से ही बनता है। जब देवताओं को अपने में अधिष्ठित कर लेते हैं, शरीर को देवता का यंत्र समझ लेते हैं तब राग-द्वेष के नियंत्रण से छूट जाते हैं। गीता में भी कहा है कि शरीर ही यंत्र है जिसे

परमात्मा चला रहा है। वह यंत्री, चलाने वाला है, मेरे शरीर मन आदि यंत्र हैं - इस बात को जो समझ लेता है वह यंत्री की शरणवाला हो जाता है। जब हमने देवता के यंत्र से शरीर को [तीनों शरीरों को] एक कर लिया तब शरीर यंत्र हो गया, देवता यंत्री, अत: जो देवता के अनुकूल है वह अनुकूल है, जो देवता के प्रतिकूल वह प्रतिकूल है। परमात्मा सदा अपने अनुकूल ही करेगा। इसलिये सारे दु:ख नियन्त्रित हो जाते हैं। इस प्रकार देव की प्रतिष्ठा कर हम उसके यंत्र बन जाते हैं तो वह देव प्रसन्न हो जाता है। किस प्रकार इस एकता को किया जाये यह तरह-तरह से शास्त्रों मे बताया है। जब तक हम एकता नहीं करेंगे तब तक मंत्र-यंत्र काम नहीं करेंगे, तब तक मन में क्रोधादि, सुख-दु:ख होते ही रहेंगे। प्राय: मनुष्य अहंकार को छोड़ने में ज़्यादा घबराता है, इसलिये यह कहा जाता है कि यंत्र पूजन कठिन है। यंत्र पूजा करने में यही कठिनाई है कि जब तक अपने को इस शरीर मन आदि का चलानेवाला समझना न छोड़ सको तब तक यंत्रपूजन बनता नहीं। 'मैं और मेरा' - सारे बंधन का यही भाव कारण है। अहं के संबंध वाला ही 'मम' हो जाता है। अहं चला गया तो मम अपने आप चला जाता है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, प्राण और बुद्धि - इन सबको अहंकार हमेशा पकड़े रहता है। 'मन का अपमान किया तो मेरा ही अपमान किया; मन के अनुकूल काम नहीं किया। तो मेरे ही अनुकूल काम नहीं किया'। मन जो है अपना सबसे बड़ा शत्रु, उसी को हम अपने से चिपकाये रखते हैं। मन को दु:ख होवे तो साधक को प्रसन्नता होनी चाहिये कि 'अरे मन! तूने मुझे बहुत तड़पाया है, अब तू तड़प'। जब तुमने हमारे मन के विरुद्ध काम किया तब हमें उतनी ही प्रसन्नता होनी चाहिये जितनी हमारे किसी दुश्मन के प्रतिकूल करने पर होती है। तब ही यह यंत्र सफल होगा क्योंकि सब काम परमात्मा की इच्छा से होंगे। जिसने परमात्मा को यंत्री बना रखा है उसे दु:खी होने की क्या ज़रूरत है! जब तक यह भावना नहीं आती, तब तक मनुष्य काम-क्रोध का शिकार बना रहता है, उसमें यंत्ररूपता नहीं आती। आचार्य कह रहे हैं - मैंने इस यंत्ररूपता को न समझा अत: कहा 'मैं यंत्र नहीं जानता हूँ'। न मैं मनन कर संसार से निवृत्त करनेवाले मंत्र को समझ पाया, न मैं परमात्मा की शरणागति प्राप्त कर यंत्र बन पाया।

परमात्मा की स्तुति, प्रशंसा करो तो भी कल्याण हो जाता है; पर कहते हैं -- कि मैं स्तुति भी नहीं कर पाता हूँ! स्तुति मायने किसी के गुणों का बार-बार चिंतन। जिनको अच्छा समझकर चिन्तन करोगे उनका संस्कार पड़ता जायेगा तो एक दिन तदनुकूल करने भी लगोगे। चाहे हमें कोई चीज़ ज़्यादा पसंद न आये पर चित्त बार-बार उसकी प्रशंसा करे तो चित्त उधर प्रवृत्त होगा ही। इसीलिये साधक के लिये इतने अधिक वैराग्य की आवश्यकता कही है। यदि सांसारिक चीज़ों की ओर प्रवृत्ति करोगे, उन्हें सोचोगे तो तदनुकूल वृत्ति बनेगी, उसी के अनुसार व्यवहार भी होने लगेगा। यदि परमात्मा के गुणों को पूज्यबुद्धि से दुहराओगे तो धीरे-धीरे उधर ही प्रवृत्ति होगी। इसीलिये भगवान् शंकर का दिगम्बर ध्यान करते हैं। शिवलिंग को कौन-सा कपड़ा पहनाओगे! इससे अपने को भी ध्यान आता है कि 'हे भगवान्! मैं भी कैसे वस्त्रों से हटकर इस निरुपाधि रूप को प्राप्त करूँ'। परमात्मा के वास्तविक गुणों की स्तुति तभी कर सकूँगा जब उनमें आरोपित उपाधियों का आकर्षण कम हो सके। सांसारिक पदार्थों में आसक्त व्यक्ति को परमेश्वर के औपाधिक रूप, औपाधिक प्रभाव ही आकृष्ट करते हैं क्योंकि वह परमात्मा को नहीं वरन् परमात्मा से सांसारिक चीज़ों को चाहता है। उसे निर्गुण निष्क्रिय परमात्मा आकृष्ट ही नहीं करता, उसे वह पाना ही नहीं चाहता। जब तक उपाधियों में हमारी दृष्टि है तब तक उपाधिवाला हमारी समझ में नहीं आता है। अत: कहा *परमात्मा* की स्तुति करना बड़ा कठिन है। मेरा उपाधियों से अभी मोह हटा नहीं है अत: उपाधिरहित की स्तुति मुझ से नहीं होती।

अत एव मुझ से भगवान् का आह्वान भी नहीं होता है। आह्वान से भगवान् की पूजा शुरु होती है, वह आह्वान ही मैं नही कर सकता हूँ? आह्वान मायने बुलाना, निमंत्रण देना। जब तक मेरे अंदर योग्यता नही होगी कि भगवती मुझ में आ सकें तब तक आह्वान कैसे कर सकता हूँ? पूजा के लिये जब किसी मूर्ति या यंत्र की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं तब उसके अंदर अपने हृदय से प्राणादि निकाल प्रतिष्ठा करते हैं और अंत में विसर्जन करते हैं क्योंकि हृदय में ही सब देवताओं का निवास है। मेरा हृदय देवताओं का आवास होवे, तभी तो आह्वान हो सकेगा। सारे शास्त्र कहते हैं कि सारे देवताओं का वास हृदय में है, पर

हमें दीखता नहीं। दिन में कितनी बार दूसरों के प्रति दया, करुणा आदि भाव आये व कितनी बार बुरे भाव आये - यह विचार कर देखो, तो ज़्यादा बार बुराई ही आई, अच्छाई चार आने भर भी आ गई तो बहुत समझो! अच्छी बात हृदय मे आती नहीं। हृदय में इतने असुर बैठे हों तो मैं आह्वान कैसे करूँ! हम असुरों का जितनी सरलता से आह्वान करते हैं उतना देवताओं का नहीं। जब मनुष्य काम्य कर्म करता है तब बडी सावधानी बरतता है कि कहीं कोई भूल न हो जाये। पर परमात्मा के लिये करने मे सावधानी नहीं बरतता। इसीलिये नित्यादि सत्कर्मों में सावधानी नहीं बरतता है। भैरव की सिद्धि करने में बहुत लोग प्रवृत्त होते हैं पर भगवान् की सिद्धि के लिये बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। जब मैं, परमात्मा का आह्वान करने योग्य ही नहीं तो आगे की पूजा कैसे करूँ!

'ध्यानं च न जाने' मैं ध्यान भी नहीं जानता हूँ। बुला न भी सकूँ तो मैं ही अपने मन के द्वारा आपका चिन्तन करूँ, आपकी तरफ जाऊँ; पर वह ध्यान भी मैं नहीं जानता। क्यों नहीं जानता? ध्यान करने में दो चीज़ें ज़रूरी हैं - एक जिसका ध्यान करते हो उसका स्वरूप पता होना चाहिये; दूसरा, ध्यान करने के लिये मन में एकाग्रता चाहिये। एकाग्रता के बिना ध्यान नहीं कर सकते। झंझट में पड़े व्यक्ति से किसी श्लोक का अर्थ पूछो तो कहेगा 'ठहरा', क्योंकि अभी उसका चित्त एकाग्र नहीं है। भगवती का ज्ञान और एकाग्रता - ये दोनों ही मेरे पास नहीं हैं। मैं आपके स्वरूप को नहीं जानता हूँ। आज तक यही निश्चय नहीं हो पाया कि परमात्मा स्त्री है, या पुरुष है, या दोनों भावों से रहित हैं? उसमें पुरुषत्व की भी कल्पना है, स्त्रीत्व की भी कल्पना है और ब्रह्मरूप की भी कल्पना है, जिसमें दोनों ही नहीं हैं। जब लिंग का ही निर्णय नहीं तो आकार का निर्णय कहाँ ! बार-बार कहते हैं - परमात्मा निराकार है; फिर कहेंगे - परमात्माकार वृत्ति बनाओ। परमात्मा का आकार है या नहीं - इसका निर्णय करने में मैं समर्थ नहीं हूँ। परमात्मा को पहले निर्गुण कहेंगे, पर उनका गुणवर्णन करने को अठारह पुराण और अनेक शास्त्र हैं। परमात्मा को गुणवाला समझा जाये या गुणरहित - इसका भी निर्णय करने में मैं समर्थ नहीं हूँ। परमात्मा के स्वरूप में माया व माया के कार्य का कोई स्पर्श नहीं है फिर भी वही परमात्मा माया व माया के कार्य को चलानेवाला है। भगवान् कहते हैं 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' - 'इन सबको

बनानेवाला जो मैं हूँ, निश्चय कर लो कि मैं इसका कर्ता हूँ ही नहीं'! अत:, मैं कैसे समझूँ कि आपका क्या रूप है। चित्त की एकाग्रता बड़े-बड़े भक्तों को दुर्लभ है अत:, मैं मन का निग्रह असम्भव समझता हूँ, मेरा चित्त भी एकाग्र नहीं है। योग्यता के अभाव में मैं आपको बुला ही नहीं सकता। स्वरूप का ज्ञान न होने से व एकाग्र मन न होने से आपके पास आ भी नहीं सकता हूँ। 'तद्ध्यानम्', उस ध्यान को भी नहीं जानता हूँ; 'तत्' के द्वारा कहा कि सब शास्त्रों में ध्यान की ही प्रधानता है। यह ध्यान का साधन मेरे लिये अत्यन्त दुष्कर है।

स्तुतिकथा च न जाने - कथा के दो अर्थ हैं - पहला, प्रबन्ध कल्पना को भी कथा कहते हैं, लोक में जिसे कहानी कहते हैं। परमात्मा के गुणों को बतलानेवाली कथायें भी मेरी समझ में नहीं आती हैं। परमात्मा के चरित्र का श्रवण करते हैं तो कुछ समझ में नहीं आता! कहीं किसी ने सारा काम विधि से करा, एक कार्य नहीं किया तो भारी दण्ड मिलता है। दूसरे किसी ने सारा कार्य विधि-रहित किया, उस पर भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। वैदिक कथा में यहाँ तक आता है कि सारा यज्ञ ठीक हुआ केवल एक शब्द को उदात्त बोलना था, अनुदात्त बोला तो यजमान को मरना पड़ा! दूसरी तरफ़ देखने में आता है कि एक राजा का लड़का सुदर्शन था, वह 'ऐं' मंत्र का जप गलत उच्चारण से करता था फिर भी उसको भगवती ने सब कुछ दे दिया। परमात्मा के गुणों को बतलाने वाली जो कथायें हैं उनके अंदर भी कुछ मेरी समझ में नहीं आता है।

कथा शब्द का दूसरा अर्थ होता है - दो या अधिक व्यक्ति आपस में पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष की बातें बोलते हैं, अर्थात् विचारों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति कथा है। परमात्मा का प्रतिपादन करनेवाला पूर्वपक्ष कहेगा परमात्मा नहीं है और सिद्धान्तपक्ष कहेगा परमात्मा है। अन्त में निर्णय होगा - परमात्मा है। कथा में 'परमात्मा है' इसका मननपूर्वक निश्चय किया जाता है। 'परमात्मा है' - इसको बतलाने वाले जो युक्ति-समूह हैं उनका चिन्तन करना रूप, जो परमात्मा की स्तुति कथा है, वह भी करने में मैं समर्थ नहीं हूँ। कोई कहता है कर्म से फल मिलेगा, कोई कहता है नियति प्रधान है, या ग्रह प्रधान हैं; मुझे ये

सब पक्ष जंच जाते हैं। एकमात्र परमात्मा ही कर्मफलदाता है, कर्म, नियति, ग्रह सब गौण हैं - निरन्तर इसका चिन्तन होगा तभी परमात्म-दृष्टि बन पाती है। मैं यह करने में भी समर्थ नहीं हूँ।

ते मुद्रा: न जाने - आपकी मुद्राओं को भी नहीं जानता। देवता की पूजा देवता को प्रदर्शन करनेवाली मुद्रा से होती है, मुद्राओं के द्वारा वह देवता प्रसन्न हो जाता है इसीलिये उन्हें मुद्रा (मुद् + रा) कहते हैं। ऐसी अंग-चेष्टायें जिनके द्वारा हमारा चित्त पिघल जाये व देवता प्रसन्न हो जाये, मुद्रा कहलाती हैं। इस प्रकार की चेष्टाओं का भी मुझे ज्ञान नहीं। आचार्य शंकर शिवानन्दलहरी में भगवान् से कहते हैं - 'आपका ध्यान, पूजा, अर्चना की पर अभी तक आप प्रसन्न नहीं हुये। शास्त्रों में आता है कि किसी ने आपको मूसल से, धनुष से, पत्थर आदि से मारा तो आप प्रसन्न हो गये! मैं क्या पत्थर मारुँ जो आप प्रसन्न हो जायें'? आप किससे प्रसन्न होंगे यही मुझे पता नहीं लग पाता है। मेरा चित्त कैसे आपके प्रेम में पिघले, कौन सी मैं चेष्टा करूँ? लाख पर हल्दी चढ़ाओ तो नहीं चढ़ती पर लाख को पिघला कर उसमें हल्दी डालो तो हल्दी उस पर ऐसी चढ़ जाती है कि रंग उतरता नहीं। इसी प्रकार यदि परमात्मप्रेम में चित्त पिघल जाता है तो कुछ भी करो परमात्म-चिंतन बना रहता है। पर मैं क्या करूँ! मेरा पत्थर-सा कठोर हृदय पिघलता ही नहीं है। अपने पैर में मोच आ जाये तो आदमी रो पड़ता है, बच्चा बीमार हो जाये तो आसूँ आ जाते हैं, पर क्या कभी परमात्मा के प्रति मन पिघला है कि क्यों मुझे परमात्मदर्शन नहीं हुआ? अत: न आपको प्रसन्न करने का तरीका समझ में आता है, न चित्त को पिघलाने का, अत: मुद्रा करने में भी मैं असमर्थ हूँ।

अन्त में कहते हैं *तद् विलपनं अपि च न जाने* - चित्त न पिघलने पर आप नहीं मिल रहे हैं इस बात की तड़पन भी नहीं होती है। दु:ख से जो वाणी निकलती है उसे विलपन या विलाप कहते हैं। दु:खयुक्त वाणी मुख से निकले कि 'आप मुझे नहीं मिले' यह विलपन, तड़प भी नहीं होती है। जिस चीज़ के विषय में मनुष्य को पक्का पता होता है उसे पाने को तड़पता है। जैसे 'पिता के पास पाँच लाख की एफ.डी.आर. थी' यह यदि पक्का पता है तो मरने के बाद रसीद न मिले तो उसका पता लगाने की कितनी तड़प होती है ! जिसे व्यर्थ

समझते हैं वह वस्तु न भी मिले तो कोई क्लेश नहीं होता। ठीक इसी प्रकार, यदि परमात्मा हमें एफ.डी.आर. जैसा दीखे, तो 'कहाँ मिलेगा, कहाँ मिलेगा'? इसकी तड़प होगी। क्योंकि हमें व्यर्थ जैसा लगता है इसलिये उसे पाने को हमें तड़प नहीं होती। परमात्मा ही हमारे जीवन का एकमात्र आधार बन जाये, तब उसके लिये तड़पन होगी। इस प्रकार की तड़पन मुझे नहीं है कि परमात्मदर्शन कैसे हो इसके लिये हृदय से विलाप करूँ। परमात्मा *से* कुछ प्राप्त करने के लिये तो तड़पन कभी-कभी अनुभव कर लेते हैं पर स्वयं परमात्मा में पक्का विश्वास भी हो जाये तो भी बड़ी बात है। वह दुर्लभ होता है जो कहे कि 'परमात्मा मुझे मिल जाये'। मुझे तड़पन का अनुभव नहीं, क्योंकि उनके प्रति प्रेम नहीं, यह विश्वास भी नहीं कि सचमुच वह मेरे जीवन का सार है।

'हे मात:' इन सब योग्यतादि से रहित होने पर भी आप मेरी माता हैं। आप ने ही संसार बनाया व आप ही मुझे इस संसार में लायीं! मेरा स्वरूप क्या है? मैं अपने को भी जानता हूँ, दूसरों को भी जानता हूँ। पत्थर को तोड़ो तो वही नहीं जानता कि 'मैं टूट रहा हूँ' न दूसरे पत्थर का टूटना जानता है। पर मैं अपने को भी जानता हूँ और दूसरों को भी जानता हूँ। सांसारिक पदार्थों में यह चेतनता नहीं है। अत: वहाँ से तो मुझमें यह आई नहीं, आपसे ही आई है क्योंकि आप चेतन हैं। दु:ख-सुख जाननेवाला, भोगनेवाला - यह जो मेरा स्वरूप है यह आप से ही आया है। अत: हे माता इतना ही जानता हूँ कि आपका अनुसरण क्लेश का हरण करनेवाला है। आपका जो मार्ग है उस पर चलना क्लेशों को हरता है। 'आपके पीछे चलना' मायने - 'संसार में जो कुछ हो रहा है उसे करनेवाली आप हैं अत: आप जो भी करें मैं उसको वैसा ही स्वीकारता हूँ'। परमात्मा जो भी करता है हमें उसे सदा अंगीकार करना है। जो भगवान् ने किया वह ठीक ही किया है - यह निश्चय रखना अनुसरण है। वास्तव में न हम कर्ता हैं, न भोक्ता। कर्तृत्व-भोक्तृत्व कहीं सम्भव नहीं! आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व इसलिये सम्भव नहीं कि वह अविकारी है, और अनात्मा जड होने से उस में कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्भव नहीं। हमारे सारे क्लेशों का कारण अपने में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान होना है। तात्विक दृष्टि से कर्तृत्व-

भोक्तृत्व है ही नहीं। यदि 'मैं' अर्थात् जीव कर्ता-भोक्ता नहीं, तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही हट गये! इन्हें इस अनुसरण से हटाना ज्ञानरूप नहीं है, भावरूप है। भक्त में यह भाव है कि 'मुझ में कर्ता-भोक्तापना नहीं, परमात्मा ही एकमात्र कर्ता-भोक्ता है'। तात्विक दृष्टि से तो कोई भी कर्ता-भोक्ता नहीं है; इस तात्विक दृष्टि को प्राप्त करने के लिये परमात्मा को ही इस जगत् का कर्ता-भोक्ता *समझा* जाता है। जब यह समझ में आ जाये, तब विचार की ज़रूरत है कि क्या परमात्मा वास्तव में कर्ता-भोक्ता है? पहले वाच्यार्थ, तटस्थ-लक्षणा समझ में आये तब लक्ष्यार्थ व स्वरूप-लक्षण भी समझ में आ जाता है। दूरस्थ मकान बताने के लिये कहते हैं 'जहाँ लाल मोटर खड़ी है वह देवदत्त का मकान है'। लाल मोटर चली जाने पर भी मकान समझ में बना रहता है। यदि कहें 'जिसके घर में सामने की तरह तीन कमरे हैं वह देवदत्त का मकान है', तो दूरस्थ व्यक्ति को मकान समझ में नहीं आयेगा। इसी प्रकार 'सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाला परमात्मा है' यह झट समझ में आ जाता है। विचार करने पर सृष्टि-स्थिति-लय न रहने पर भी परमात्मा का ज्ञान रहता ही है। जब यह ज्ञान है कि 'मैं चेतन हूँ तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व मुझमें नहीं', तब पता लगता है कि परमात्मा भी चेतन है तो उसमें भी कर्ता-भोक्तापना नहीं। इस प्रकार सब क्लेशों का मूल कर्तृत्व-भोक्तृत्व हट जाना ही क्लेशों का हरण है।

तीन तरह के क्लेश हैं - आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। शरीर में होनेवाले क्लेश - बुखार, सिरदर्द आदि। यदि हमारा 'अनुसरण' है तो भाव रहता है कि 'परमात्मा शरीर का मालिक है, वह इसे कष्ट दे रहा है, इसका मैं अनुमोदन करता हूँ'। छोटा बालक नहाने में रोता है क्योंकि उसे कष्ट होता है, वह नहीं जानता कि माँ नहीं नहलायेगी तो मैल जम जायेगी। माँ बड़े लड़के का फ़ोड़ा ज़ोर से दबा देती है; वह जानता है कि माँ ने दबा कर दर्द की निवृत्ति कर दी, अत: वह रोता-चिल्लाता नहीं। इसी प्रकार परमात्मा न जाने हमारे कितने पापों को शरीर में दु:ख देकर धो रहा है! यह याद रहे तो ज्वरादि आने पर क्लेश न हो। माँ जब फोड़ा धोती है तब समझदार लड़के को दु:ख होता है, क्लेश नहीं। शरीर की

तरह मन इन्द्रियों की आधिदैविक पीड़ा में भी वह जानता है कि कोई भी देवता बिना परमात्मा की अनुमति के कुछ नहीं करता है। अत: इन्द्रिय-मन में जो हो रहा है वह परमात्मा की इच्छा से ही हो रहा है। इसी तरह आधिभौतिक दु:ख - किसी ने गाली दी, कुत्ते ने काटा; वहाँ भी निश्चय है कि इनमें बैठा परमात्मा ही ये काम कर रहा है अत:मेरा हित ही है। यह दृष्टि ही 'अनुसरण' है कि परमात्मा ने किया वही ठीक है। जो परमात्मा कर रहा है वह ठीक कर रहा है - यह भाव ही है क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से विचार करो तो हर एक चीज़ ठीक नहीं होती है और परमार्थ दृष्टि से विचार करो तो कुछ हो ही नहीं रहा है! अत: यह न व्यावहारिक है, न पारमार्थिक है किंतु भाव है। व्यावहारिक दृष्टि से शालिग्राम शिला पत्थर है, पारमार्थिक दृष्टि से है ही नहीं। हमें मूर्ति का भाव बनाना है। परमात्मा हमें प्राणों से प्यारा है, वह जो कर रहा है वह ठीक है - यह भाव बनाना है। देवता भाव से ही फल देता है। तंत्र-मंत्र भी भाव से ही फल देते हैं। विभीषण ने किसी राक्षस को भारत की ओर भेजा, राक्षस ने कहा 'समुद्र पार कैसे करूँगा'? विभीषण ने हाथ में एक मंत्र लिखकर कहा 'इसे खोलना, मत समुद्र पार हो जाओग'। चलने लगा, पार होने लगा, आधा रास्ता हो गया तो सोचने लगा 'देखूँ क्या लिखा है'; देखा, 'राम' लिखा है! सोचने लगा - 'जो हमारे रावण से लड़ा वह राम'। यह भाव आते ही डूबने लगा ! भाव से ही पार हो रहा था। भाव से ही पूजा होती है। भाव नहीं है तो पूजन कोई लाभ नहीं देता। वर्तमान काल में लोग बिना भाव के ही पूजन करते और कराते हैं। पण्डित पूजा कराते हैं पर उनमें भाव नहीं है। भाव के बिना किया पूजन कार्यकारी नहीं होता। भाव है तो फल होता है, भाव नहीं तो फल का अभाव होता है। संसार में विचार कर देखो तो कोई चीज़ अच्छी है कोई बुरी, पर यदि हम भाव से परमात्मा का अनुसरण करते हैं तो हमारे क्लेश का नाश हो जाता है।।१।। और भी जो साधन नहीं हुये उन्हें कहते हैं -

विधेरज्ञानेन द्रविणविरहेणालसतया
विधेयाशक्यत्वात् तव चरणयोर्या च्युतिरभूत्।
तदेतत् क्षन्तव्यं जननि सकलोद्धारिणि शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति
।।२।।

हे जननी! विधि न जानने से, धन की कमी से, आलस्य से तथा कर्तव्य न कर सकने से आपके चरणों से मेरा जो गिरना हुआ है, उसे आप माफ करें। आप सबका उद्धार करनेवाली कल्याणरूपा हैं। कुपुत्र पैदा हो सकता है, कुमाता कभी नहीं होती।

'विधे: अज्ञानेन' - आपके पूजन ध्यान इत्यादि की अनेक विधियाँ हैं, उनका मुझे अज्ञान है। शास्त्र में अनेक पूजा की विधियाँ बतलाई हैं, उनका पूर्ण ज्ञान होना बड़ा असम्भव-सा है। और जितनी विधियों का पता है, उनको पूर्ण करने को जो धन, द्रव्यादि चाहिये वे भी दुलर्भ हैं। कभी धन है भी तो द्रव्य प्राप्त नहीं होता है। आज के युग में तो गाय का दूध-घी ही मिलना मुश्किल है! सबके पास इतना धन भी नहीं होता कि चीज़ें खरीद सकें। पहले तो विधि का अज्ञान है, फिर जितना ज्ञान है भी उसके लिये धन का अभाव है। आगे कहते हैं '*अलसतया*' - विधि-ज्ञान है, धन भी है, पर आलस्य का दोष है। आलस्य सहजरूप से मनुष्य में होता है। पूरी विधि से पूजन करने में जो थकावट आती है या अर्थोपार्जन करने में जो थकावट आती है उससे बचने की प्रवृत्ति आलस्य है। पूर्ण विधि से पूजन करने में रोज़ चार पाँच घण्टे लग जाते हैं। फिर द्रव्य उपार्जन के लिये कार्य करने में उत्साह न रहना भी आलस्य है। आलस्य के कारण भी हम भगवती से दूर रह जाते हैं। *विधेयाशक्यत्वात्* - जो करने को कहा है वह हर समय करना शक्य नहीं होता है। शरीर के असामर्थ्य के कारण ध्यान-पूजा नियमित रूप से नहीं हो पाती। इन सब कारणों से आपके चरणों की आराधना में मेरी जो कुछ च्युति रही, कमी रही, उसे क्षमा करें।

कर्मरूपी अर्चना के लिये जैसे ये सब बातें हैं वैसे ही ज्ञानरूपी अर्चना में भी कठिनाई है। श्रुति ने विधि की 'श्रोतव्यो-मंतव्य:', पर श्रवण कैसे करूँ? मेरे अंदर श्रवण-मनन करने की विधि का ज्ञान नहीं। और जो द्रव्य - साधनचतुष्टय-सम्पत्ति चाहिये, उसका विरह है। गुरु मिल गये, श्रवण भी करने लगे तो विवेक, वैराग्य, शमादि, उपरति आदि साधनों की कमी रहती है। परमात्मा के दो चरण हैं - लक्ष्यार्थ व वाच्यार्थ। हम अपने पंचकोषों से इतना चिपके हैं कि उस चिपकाव को हटा नहीं पाते। जब पंचकोशों से चिपकाव हटे तब काम हो।

श्रवण-मनन से थोड़ा-बहुत समझ आने पर भी पंचकोषों में जो हम अपने संस्कारों से चिपके हैं उसे नष्ट नहीं कर पाते। अत: जो 'विधेय' है अर्थात् श्रवण-मनन के बाद ज्ञाननिष्ठा है, वह हम नहीं कर पाते। अत: न हमारी समझ में भली प्रकार से वाच्यार्थ ही आता है कि हमारे हृदय में बैठी संवित् शक्ति ही सृष्टि-स्थिति-लय का कारण है, तो लक्ष्यार्थ कहाँ से आयेगा! अत: आपके चरणों से मेरी च्युति होती रहती है।

तत् एतत् क्षन्तव्यं - यह जो मेरी च्युति है उसे आप क्षमा करें क्योंकि सकलोद्धारिणि शिवे; - कला मायने हिस्सा। उपाधितादात्म्य वाले जीव ही मानो भगवती के हिस्से हैं, अंश हैं। अपने सभी हिस्सों का उद्धार करना भगवती का स्वभाव है। हमारे अंदर बैठी हुई वह संवित् भगवती हमें उपाधि से अलग करती रहती है। यह शक्ति अंदर से सभी के लिये प्रवृत्त हो रही है - सारे जीवों को परमात्मा की ओर जाना है। 'शिवे' कल्याणस्वरूप भगवती, यह आप का स्वभाव है। यह जो आपने मेरे अंदर मुमुक्षा का रूप धारण कर लिया है, इसे आप बढ़ाती जायें; मुझ से त्रुटियाँ होती रहें, तो आप क्षमा करती रहें।

नरक से जो त्राण करे वह पुत्र। जो यह काम नहीं करता वह कुपुत्र है। पुत्र तो अपना काम नहीं भी करता पर माता तो रक्षण-पालन का काम कर ही रही है। माता जब पुत्र का पालन करती है तो दृष्टफलता है। अत: कुमातृत्व आ ही नहीं सकता। पुत्र जब माता के लिये काम करता है तब माता अदृष्ट हो चुकी है, मर चुकी है। अदृष्ट के प्रति हम लापरवाह हो जाते हैं, दृष्ट के प्रति उतना नहीं। भगवती के सामने हम दृष्ट हैं, हमारे लिये वे अदृष्ट हैं, परोक्ष हैं। अत: हम उसके लिये जो करना चाहिये वह नहीं करते, हम संसार के पदार्थों की आसक्ति के कारण बार-बार गलतियाँ करते हैं, पर हम तो सदा आपके लिये दृष्ट हैं अत: आप कभी कुमाता नहीं हो सकतीं।।**२**।।

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहव: सन्ति सरला:
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुत:।
मदीयोऽयं त्याग: समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।३।।

हे जननी! पृथ्वी में आपके असंख्य सरल पुत्र हैं पर उनमें मैं आपका विरल-तरल सुत हूँ। हे

कल्याणमयी! आपके लिये यह ठीक नहीं है कि मेरा यह त्याग हो (क्योंकि) कुपुत्र पैदा हो भी जाये तो माता कभी कुत्सित नहीं होती।

'जननी' अर्थात् सबको उत्पन्न करने वाली। पृथिव्यां - सारे संसार में आपके बहुत से सरल पुत्र हैं। सरल मायने जिनके स्वभाव में मृदुता हो वक्रता नहीं। जिनके स्वभाव में वक्रता, टेढ़ापना होता है वे तो परमात्मा की उपासना के अधिकारी ही नहीं होते, वे परमात्मा के ऊपर कभी भरोसा ही नहीं कर पाते। जब भरोसा ही नहीं करेंगे तो आगे आराधना क्या करेंगे! अत: आपकी आराधना करने वाले सरल लोग ही हैं, मन, वाणी, क्रिया की जिनमें सरलता है। जिसके मन में सरलता होती है वह बाकी सब को भी सरल मानकर व्यवहार करता है। जिसके मन में कुटिलता होती है वह अन्य लोगों को भी कुटिल समझता है। वाणी में कुटिलता होती है तो कहेगा कुछ, मन में होगा कुछ और। हे माता! आपकी सेवा करने वाले अनेक सरल पुत्र हैं पर आपकी जो सेवा करने वाले हैं उनके बीच में मैं वि*रलतरल* हूँ अर्थात् सरल तो हूँ सेवा करने की वजह से, पर शायद ही ऐसा कोई होवे ऐसे चंचल स्वभाव वाला हूँ। जो आशाओं से बँधा रहता है वह सदा ही चंचल बना रहता है, बंदर की तरह एक डाल से दूसरी डाल में कूदता है, एक आशा से दूसरी आशा में फँसता रहता है। पर सुत हूँ, पैदा मैं आप से ही हुआ हूँ। जो आप मुझे त्यागकर बैठी हैं कि 'इसका मन अत्यन्त चंचल है तो इसमें न बैठूँ', यह आपके लिये उचित नहीं क्योंकि कुपुत्र होने पर भी माता उसका त्याग नहीं करती। पुत्र व सुत - दो शब्द हैं; पुत्र वह जो माता-पिता की नरक से रक्षा करे। सुत वह जो माता से पैदा हुआ है। बाकि सब तो आपके पुत्र हैं, जैसी सेवा करनी चाहिये वैसी करते हैं। मैं वैसी सेवा करने वाला तो नहीं हूँ, पर सुत हूँ पैदा आप से ही हुआ हूँ। अत: मुझे छोड़ना आपके लिये ठीक नहीं है। चाहे पुत्र हो, चाहे सुत हो, परंतु जननी एक जैसी है, उसमें तो कोई भेद नहीं! 'जननी' सम्बोधन से कहा कि हमें पैदा तो आपने किया ही है। कुछ पुत्र सरल हैं तो कुछ विरलतर हैं।

'सरल' चीड़ के वृक्ष को कहते हैं। उसमें सुगन्धि का पदार्थ निकलता है जब उसे रगड़ा जाये। हाथी खाज़ मिटाने के लिये चीड के पेड़ से

शरीर रगड़ते हैं तो पेड़ से 'लीसा' निकलता है, चारों तरफ पहाड़ में फैल जाता है तो सुगन्धि फैल जाती है। जैसे सरल वृक्ष में अत्यन्त सुगन्धित तरल पदार्थ है, इसी प्रकार परमात्मा की उपासना के लिये किये जाने वाले शुभकर्मों में जो यशरूपी सुगंध है वह चारों तरफ फैलती है, उपासक का यश फैलता है। उस यश से लोगों को परमात्मा के प्रति सद्भावना बढ़ती है। इसलिये वे पुत्र हैं, उन्हें देख लोग कहते हैं 'भगवान् का पूजन करने से ये गुण आते हैं अत: आस्तिकता अच्छी चीज़ है'। मैं उन शुभकर्मों के बीच में तो हूँ पर विरलतर हूँ। 'रल' मायने इच्छा को जो ग्रहण करता है; उसके जो विपरीत है अर्थात् इच्छा को छोड़नेवाला, वैराग्यवाला है वह विरल है। वैराग्य वाला सूक्ष्म बुद्धि का होता है। मैं विरल हूँ, वैराग्यवान् हूँ अत: तरल हूँ - 'तर' मायने नाव इत्यादि। श्रवण-मननरूपी जो तरणि है, नाव है, उसमें मैं पूरी तरह लगा हुआ हूँ, लग्न हूँ अत: मैं विरल-तरल हूँ। सरल यद्यपि चारों तरफ यश को तो फैलाता है पर उसके अंदर सरकना है, वह एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, स्वर्ग जाता है फिर पृथ्वी पर आता है। मैं वैराग्यवान् होकर श्रवण-मनन में लगा हूँ अत: मेरे कारण आपका यश बढ़ता नहीं है, जैसे सरल पुत्रों के यश से बढ़ता है। पर मैं भी प्रतिबिम्बरूप से चिदाभास होने से आपका सुत हूँ। मेरा प्रेम आपके लिये ऐसा है कि चाहे सारा संसार कुछ कहे, मैं तरण के मार्ग पर ही चलने में तत्पर हूँ। अत: सरल पुत्रों, उपासकों के बीच में मैं विरल सुत हूँ। अत: आप मुझे त्याग नहीं सकतीं, जैसे बाकियों को कर्मों का फल देती हैं वैसे मुझे ज्ञान का फल अज्ञाननाश प्रदान करें। मैं जिस निष्कलंक परमात्मा से प्रेम कर रहा हूँ उस परमात्मा की ही आप शक्ति हैं। शिव कल्याणकारी है। कल्याणमय शिव को ही मैं चाहता हूँ, उसकी शक्ति होने के कारण आप शिवा हैं। पुत्र कर्त्तव्य न करे तो भी माता उसका कल्याण करती ही है तब मुझे इस विषय में कोई चिन्ता नहीं कि मेरा कल्याण कैसे होगा। ।।३।।

जगन्मातर्मातस्तव चरणसेवा न रचिता
न वा दत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत् प्रकुरुषे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।।४।।

हे विश्वाम्बा माता! मैंने आपकी पाद सेवा नहीं की। हे देवी आपको प्रभूत धन अर्पित नहीं

किया। फिर भी आप मुझ पर जो बेजोड़ स्नेह रखती हैं यही इसमें प्रमाण है कि कुपुत्र भले ही हो कुमाता कहीं नहीं हुआ करती।

हे सारे जगत् की माता! मेरी माता! 'माता' कहते हैं जाननेवाले को। 'जगन्मात:' - जगत् को जाननेवाला सर्वज्ञस्वरूप और '*मात:*' - प्रत्यगात्मरूप से अंदर बैठा जो प्रमाता; इसके द्वारा जीव और ईश्वर की एकता बताई। जो जगन्माता ईश्वर है वही शरीर में बैठकर जीव भी है, ऐसी जो आप अखण्ड हैं आपके चरणों की सेवा मैंने नहीं की। चरणसेवा दो तरह से होती है - एक तो आचरण द्वारा, मैंने वह सेवा नहीं की। भगवान् के विधि-विधानों के नियमों के अनुसार चलना उनकी सेवा है। दूसरी सेवा है आपके बारे में लोगों को बतलानारूप प्रचार। मैंने न आचरण से आपकी सेवा की है और न ही प्रचारसेवा की है। और हे देवी भगवती! आपको मैंने खूब धन भी नहीं दिया है। मैंने तन-मन-धन कुछ भी आपको नहीं दिया, इतने पर भी आप *निरुपमस्नेह* रखती हैं।

आप अखण्ड चिन्मात्ररूपिणी हैं। अखण्ड चिन्मात्र के दो चरण हैं - एक सगुण और दूसरा निर्गुणस्वरूप; दोनों के द्वारा उसकी प्राप्ति की जाती है अत: दोनो ही उसके चरण हैं। मैंने न भली प्रकार से पदार्थ-शोधन किया है और न वाच्यार्थ को ही भली प्रकार समझ पाया हूँ। तत्पद का जो वाच्यार्थ है उसका भी भली प्रकार से सेवन नहीं किया। शास्त्रों से समझ तो लिया, पर निरंतर उसमें लगा नहीं रहा। वाच्यार्थ का ही जब सेवन न किया तो लक्ष्यार्थ को कहाँ पकड़ सकता हूँ! इसीलिये '*चरणसेवा न रचिता*' - रचना अपनी तरफ से की जाती है। शास्त्र में जो कहा गया है उसे समझना मात्र नहीं, नई युक्ति से बार-बार उसका उद्भावन करना रचना है, वह भी मैंने नहीं की अर्थात् अपनी तरफ से जो मुझे करना था वह भी नहीं किया। बार-बार श्रवण-मनन करने से बुद्धि शुद्ध होकर ज्ञान हो जाता है। उतना श्रवणादि मैंने नहीं किया। यदि किसी में ज़्यादा श्रवण-मनन की योग्यता नहीं हो तो वैराग्य से भी अन्त:करण शुद्ध हो जाता है। पर विवेक, वैराग्य आदि साधन-चतुष्टय रूप धन भी मेरा इतना अधिक नहीं कि उससे मेरा मन शुद्ध हो जाये। इतना होने पर भी आप देवी हैं, महादेव की शक्ति हैं, इसलिये आप मेरे हृदय को निरंतर उधर ही प्रवृत्त कर रही हैं, अन्तर्यामीरूप आप ही हैं जो सदा

उस महादेव की ओर प्रवृत्त कर रही हैं। यह आपका मुझपर निरुपम स्नेह है। संसार के स्नेह कुछ प्राप्त करने को होते हैं पर भगवती का स्नेह कुछ प्राप्त करने को नहीं है वरन् महादेव की निष्कलता में जो सकलता का दोष अज्ञान के कारण आया है, उसकी निवृत्तिमात्र ही उसका प्रयोजन है। अत: आपका जो स्नेह निरंतर मुझे आपकी ओर प्रवृत्त करा रहा है वह निरुपम, उपमाहीन है। बिना आपकी कृपा के आपके प्रति प्रेम उत्पन्न हो नहीं सकता है और बिना आपसे प्रेम के आपकी कृपा हो नहीं सकती! विचार कर देखें इस समस्या का कोई समाधान नहीं है, पर कहीं-कहीं प्रेम देखने में आता है अत: मान्य है कि परमात्मा ही अहैतुकी कृपा कर वह प्रेम उत्पन्न कर देते हैं। जो प्रथम प्रेम की ज्वाला परमात्मा जला देते हैं वह उनकी अहैतुकी कृपा है। फिर तो प्रेम से और कृपा एवं कृपा से और प्रेम होगा। अत:, मैं आपसे प्रेम नहीं करता हूँ, आप ही वह ज्योति मेरे अंदर जलाती हैं। अत: आपका निष्कारण स्नेह पुन: स्थापित कर देता है कि पुत्र कुत्सित होना सुलभ है पर माता कुत्सित नहीं हुआ करती।।४।।

भगवती का निरुपम स्नेह बताकर अब कहते हैं कि मेरी भी और कोई शरण नहीं है - हे गणेश की जननी!

परित्यक्ता देवा विविधविधसेवाकुलतया
मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि।
इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता
निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम्।। ५।।

पचासी से ज़्यादा उम्र बीत जाने पर नाना प्रकार की सेवायें करने से आकुल होकर मैंने देवताओं का परित्याग कर दिया है। हे माता! अब भी अगर आपकी कृपा न हुई तो मैं बेसहारा किस की शरण लूँगा!

मेरी उम्र पिचासी से अधिक बीत गई है। प्रथम पचीस वर्षों में ब्रह्मचर्य का पालन किया, बाद के पचीस वर्षों में गृहस्थ आश्रम में यज्ञ दान आदि देवाराधना के कर्म मैंने किये, फिर पचीस वर्षों तक वानप्रस्थ आश्रम में मैंने तपस्या की। उसके बाद भी दस वर्ष बीत गये जिनमें चतुर्थ आश्रम के जो कर्म बताये हैं उनको करता रहा हूँ। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आश्रमों में जो-जो भिन्न-भिन्न कर्म और

उपासनायें बताई हैं वे सब मैंने की। अब इस उम्र में शरीरादि की शक्ति शिथिल हो गई है। भिन्न-भिन्न देवताओं की आराधना की भिन्न-भिन्न विधियाँ बतायी गयी हैं, यथाविधि सब करते-करते अब मैं व्याकुल हो गया हूँ। यह सब करना, स्मरण रखना, व्यवस्था करना मेरे लिये अब सम्भव नहीं। अत: उस कर्म-उपासना के मार्ग को, देवता-आराधन को मैंने छोड़ दिया है। जीवन में मनुष्य का यही अनुभव होता है - पहले भिन्न-भिन्न साधनों से उपासना उत्साह से करता है, फिर करते-करते, धीरे-धीरे उत्साह हट जाता है, साधक व्याकुल हो जाता है। बर्फ का गोला यदि बर्फीली ढलान पर लुढ़काओ तो रास्ते की बर्फ एकत्रित कर गोला बड़ा होता चला जाता है। इसी प्रकार कर्म प्रारम्भ करो तो अपनी गति से बढ़ता चला जाता है। अतिसंक्षिप्त कर्म जो शास्त्र ने कहे हैं वे भी काल के साथ विस्तृत होते चले जाते हैं।

नियम बनाया है कि कोई भी व्रत करो, उसका उद्यापन (समापन) ज़रूर करना चाहिये। यह इसीलिये कि तुम्हारा कर्म बढ़ता न जाये, पर लोग उद्यापन करके भी व्रत करते रहते हैं! उद्यापन इसलिये करते हैं कि कर्म का अन्त करो, पर मनुष्य वह कर्म करता रहता है। अत: जिनसे चित्त में शान्ति आनी थी वे कर्म स्वयं ही आकुलता के कारण बन जाते हैं। अत: यहाँ कहते हैं कि उन सब कर्म-उपासनाओं को छोड़ दिया। अर्थात् सारे आलम्बन मैंने छोड़ दिये हैं, केवल आपका सहारा है। शास्त्र कहता है कि सारे आलम्बन छोड़ने से संवित् भगवती प्रसन्न हो जाती हैं, अत: अब मैं किसकी शरण जाऊँ! आप गणेशजी की माता हैं, और ऐसी माता हैं कि उनको उत्पन्न करने में सिवाय आपके कोई कारण नहीं। आपने शरीर के मल से ही गणेश को उत्पन्न किया आपने गणेशजी की शंकर के सामने रक्षा की; जैसे गणेशजी ने भगवान् शंकर का विरोध किया, वैसे ही मैंने भी परमात्मा के सामने अनेक अपराध किये हैं पर चूँकि मैं आपसे ही उत्पन्न हूँ, मेरी जो उपाधि है वह आप से ही उत्पन्न है, अत: आप ही रक्षा कर सकती हैं, और किसकी शरण जाऊँ! इस प्रकार जिसने समस्त वर्ण-आश्रम धर्म पालन कर लिये हैं वह उन्हें छोड़ भगवती की शरण में रक्षा के लिये जाता है।

वयसि - वय धातु गत्यर्थक है, इसलिये पक्षी को भी वयस् कहते हैं क्योंकि उड़ता ही जाता है। जीव भी पक्षी कहा गया है। जीव को अन्यत्र 'हंस'

शब्द से जगह-जगह कहते हैं जैसे 'हंसा चले अकेला'। जीवरूप जो पक्षी है उसका जब **८५** से आगे जाना हो गया, तब वह एकमात्र परमेश्वशरण रह जाता है। इन **८५** चीज़ों को श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया है:

'पंचस्रोतोऽम्बुं पंचयोन्युग्रवक्रां
पंचप्राणोर्मिं पंचबुद्ध्यादिमूलाम्।
पंचावर्तां पंचदु:खौघवेगाम्
पंचाशद्भेदां पंचपर्वाम् अधीम:।।' **(१०५)**

यहाँ **८५** तरह की अवस्थायें व उपाधियाँ बताईं, जब इन **८५** को पार कर लेवे तब जीव का काम बनता है, '*देवा: परित्यक्ता:*' इन्द्रिय व मन - सबको छोड़ उस तत्व में निष्ठा हो जाती है। अत: यहाँ कहते हैं मेरा पक्षीरूपी जीव इन **८५** को छोड़कर अब आगे जा रहा है। हे जीव! यदि तुम अब भी कृपा न करोगे, शान्त हो विक्षेप छोड़कर शांत नहीं होने दोगे अब भी यदि विक्षेप करना चाहेगे, तो मैं साक्षिरूप में स्थित हो जाऊँगा।

पाँच स्रो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच योनि - उनके पाँच कारणरूप सूक्ष्म महाभूत, पाँच तन्मात्रायें हैं, वे ही प्रपंच की योनि हैं व सारे उग्र और वक्र हैं अर्थात् कुछ भी दया नहीं दिखाते! '*पंचप्राणोर्मिं*' पाँच प्राणों के द्वारा ही क्रिया-शक्ति प्रकट होती है। बुद्ध्यादि पाँच अर्थात् मूलक मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व विषय-वासना; शास्त्र कहता है कि ज्ञात संसार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और विषय-वासना का ही विस्तार है। '*पंचावर्त्तां*' - आर्वत्त मायने पानी का भँवर। जो रूपादि पाँचों विषयों के प्रति आसक्ति है वही प्रवाह को रोकती है। आसक्ति के कारण मनुष्य आगे नहीं बढ़ पाता है। गर्भ, जन्म, जरा, व्याधि व मरण ये पाँच दु:ख हर जन्म में होते हैं। '*पंचपर्वाम्*' - अविद्या (अविवेक), अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश - ये पाँच पर्व, पोर हैं। सारी सृष्टि भगवती का खेल है। इस खेल का कोई प्रयोजन नहीं है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि राजा इत्यादि के खेल का प्रयोजन कल्पित किया भी जा सकता है पर परमात्मा के खेल के प्रयोजन की कल्पना भी नहीं बनती है। यह तो परमात्मा का स्वभाव है कि वह खेलता है, प्रयोजन कुछ नहीं है। है यह सारी परमात्मा की

सृष्टि, हमारा काम था केवल खेल देखें। दूसरा कोई था नहीं अत: उसने अपने को ही दिखानेवाला ईश्वर व देखनेवाला जीव इन दो रूपों में बना लिया। परंतु अविवेक के कारण हम 'देखने वाले' की जगह ही 'कर्ता' बन गये। काम तो हमारा था केवल खेल देखने का, पर बन गये कर्ता। खेल को देखने लगे पर देखते-देखते बन गये कर्ता-भोक्ता! यह अविवेक है। अविवेक से अस्मिता आ गई कि शरीर, मन, इन्द्रियाँ हमारी हैं। हैं ये महान् बंधन की चीज़ें, अत: शरीर-मन आदि के अंदर अविवेक के कारण अस्मिता आई तो शरीरादि के प्रतिकूल-अनुकूल के प्रति द्वेष-राग हुआ, फिर अभिनिवेश हुआ कि 'मैं सदा बना रहूँ'। ये **३५** उपाधियाँ हैं।

इनके साथ ही 'पंचाशद्भेदाम्' पचास 'भेद' हैं। शरीर के अंदर नाडी-सस्थान ही सारी क्रियाओं को करने वाला है -- कार्य करने वाली चीज़ तो मन है, पर बिना किसी नाडी की सहायता के मन काम नहीं कर सकता है। बाह्य जगत् के अंदर भी ज्ञान करनेवाला मन है पर इन्द्रियों के द्वारा, इसी प्रकार शरीर के अंदर, अध्यात्म के अंदर, चिंतन तो मन करेगा पर नाडी-संस्थान के सहारे से। सारे नाडी-संस्थान में छह मुख्य स्थल बताये हैं। मूलाधार, उससे ऊपर उपस्थ के पास स्वाधिष्ठान, नाभि के पास मणिपूर, हृदय के पास अनाहत, कण्ठ के पास विशुद्ध और भ्रूमध्य के अंदर आज्ञा - ये प्रधान चक्र हैं। मन इनके अंदर तत्-तत् कार्य करता है। इन सारे चक्रों के अंदर कमल के जैसे पचास दल हैं। इन पचास का मन की वृत्तियों के साथ सम्बन्ध होता है। हंसरूपी जीव जब पिचासी को पार कर आगे जाता है तब वह सारे विक्षेपों के होने पर भी अपने साक्षिभाव में स्थित रह पाता है। *मूलाधार* के चक्र में जो कमल-दल हैं, उनसे अनुभव होते हैं

(i) परमानंद, (ii) सहजानंद, (iii) वीरानंद, (iv) योगानंद।

बाहर से आनंद के विषय का स्पर्श होने पर वह अंदर स्नायु को प्रभावित करता है, उससे स्मृति आने पर गोलक उत्तेजित हो जाता है। जैसे जीभ के अंदर अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग तन्तु हैं, किसी स्थान पर खट्टा, किसी स्थल पर मीठा किसी स्थल पर नमकीन स्वाद लेने के तन्तु हैं; उन-उन तन्तुओं के सम्पर्क में आने पर ही वह

अनुभव स्पष्ट होता है, जीभ के मीठे तंतु पर नमक लगेगा तो नमक का स्वाद स्पष्ट नहीं लगेगा! ऐसे, चाहे विषयसम्पर्क से हो पर आनंद के अनुभव का केन्द्र मूलाधार ही है।

स्वाधिष्ठान चक्र लिंग के मूल में है (जिसे प्रोस्ट्रेट कहते हैं)। इसमें छह कमल-दल हैं। जीवरूपी हंस पक्षी जब उसके पूर्वपत्र में पहुँचता है तब (i) निर्भयता (प्रश्रय) का अनुभव होता है; उसके पास वाले में पहुँचने पर (ii) क्रूरता का अनुभव होता है, उसके पास वाले में (iii) गर्वनाश का अनुभव होता है फिर चौथे में (iv) मूर्च्छा, उसके पास वाले में (v) अवज्ञा, उसके पास वाले में जाने पर (vi) अविश्वास का अनुंभव हाता है। ये छह भाव इन दलों पर आने पर व्यक्त होते हैं।

नाभि में जो *मणिपूर* चक्र है उसके पूर्वदल में पहुँचेगा तो (i) सुषुप्ति होगी, उसके पास वाले दल में (ii) तृष्णा होगी; जिसका यह दल ज़्यादा काम करता है उसे कभी संतोष नहीं होता है! उससे अगले दल में पहुँचने पर (iii) ईर्ष्या, दूसरे की उन्नति देखकर जलन होती है कि, 'मेरी यह उन्नति क्यों नहीं'? उससे अगले दल में (iv) पिशुनता - चुगली, इधर की बात उधर कर देना। अगले दल में पहुँचने पर (v) लज्जा होती है। अगले दल में, (vi) भय लगता है। फिर (vii) घृणा होती है, अपने शरीर तक से घृणा हो जाती है! जिनका यह चक्र तीव्र होता है उनमें सदा दूसरे के प्रति घृणाभाव रहता है। अगले दल में (viii) मोह होता है, गलत ज्ञान, गलत निश्चय होते हैं। अगले दल में पहुँचने पर (ix) कुधी, दुर्बुद्धि होती है, फिर (x) विषादिता होती है, विषाद रहता है। जब तक जीव इस दल में रहेगा तब तक बढ़िया से बढ़िया विवाह होने पर भी वह प्रसन्न नहीं होगा, सब प्रसन्न होंगे पर वह नहीं हो पायेगा।

नाभि के ऊपर हृदय के पास *अनाहत चक्र* - इसमें बारह दल का कमल है। उसके दलों पर पहुँचने से क्रमश: ये भाव व्यक्त होते हैं - लौल्य - चपलता; इस दल पर रहे तो व्यक्ति हर काम में चपलता करता है, कभी गंभीर नहीं रहता। प्रणाश - हर चीज़ को नष्ट करने की प्रवृत्ति होती है, चीज़ों को पटकते हैं ज़ोर से रखते हैं। कपट - अंदर कुछ भाव रखकर बाहर अन्यथा व्यक्त करना। वितर्क - कल्पना, ऊह के जाल बुनना और साथ में अनुतापिता - कोई भी बात होने के बाद ताप

करना कि 'ऐसा नहीं करना चाहिये था'। आशाप्रकाश - हर परिस्थिति में आशा दीखना। चिंता - आशा का कोई संकेत नहीं रह जाता है, चिंता ही प्रधान हो जाती है, कोई समाधान नहीं समझता वरन् हमेशा चिंता में ही लगा रहता है। समीहा - पदार्थों को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा बनी रहती है। समता - चीज़ मिले न मिले, हर परिस्थिति में समता रहती है। एक आदमी किसी पर कभी भी गुस्सा नहीं करता था। एक बार गाँव में बात हुई कि इसे गुस्सा दिलाया जाये। उसके नौकर से पूछा 'इसे सबसे ज्यादा क्या बूरा लगता है'? वह बोला 'बिस्तर में सलवट इसे बिल्कुल अच्छी नहीं लगती'। लोगों ने उससे कहा 'तुझे हम पैसे देंगे, उनके बिस्तर में सलवट डाल देना'। उसने जान-बूझकर सलवट छोड़ी। मालिक ने टोक-भर दिया। नौकर ने लगातार सलवटें छोड़ना जारी रखा। मालिक ने तीन-चार दिन टोका फिर कहा 'अब तुम्हें सलवटें हटाने की ज़रूरत नहीं, मैंने सलवटों पर सोने की ही आदत डाल ली है'! समतावाला अपने को बदल लेता है ताकि जिस परिस्थिति में है वही ठीक हो जाती है। दम्भ - घमण्ड, जैसे 'मुझे सब धर्मात्मा समझें'। धर्म करने में उसे रुचि नहीं है, बस धर्म-ध्वजिता चाहता है। लोग धर्मात्मा समझें यह सोचकर मन्दिर जाता है। मन्दिर जाने में उसकी आस्था नहीं है, धर्म-पालन में कोई श्रद्धा नहीं है। वैकल्य - कोई भी कार्य ज़ल्दी से ज़ल्दी हो- यही विकलता है। विवेक - क्या ठीक है क्या गलत, क्या सत्य है क्या असत्य, इन्हें अलग अलग समझने की सामर्थ्य। हुंकृति - हुंकार करने की प्रवृत्ति होती है कि दूसरे लोग क्या जानते है!

अनाहत चक्र के बाद कण्ठ के अंदर भारती-स्थान है, विद्या का स्थान है जिसे विशुद्धि चक्र कहते हैं, इसमें सोलह कमल-दल हैं। भारती-स्थान होने के कारण इस पर सारे वेद का निवास है। अत: यह कर्मस्थल भी है व मोक्ष का स्थल भी है। इन दलों पर जाने पर विभिन्न मानसिक भावनायें होती हैं। जिनके अंदर वैदिक भावनायें होंगी उनके अंदर ये सारे गुण आयेंगे - (i) कृपा - दूसरे का कल्याण करना, (ii) क्षमा - माफ करने की भावना, (iii) आर्जव - सरलता, कभी कपट-भावना नहीं, शरीर-मन-वाणी से व्यवहार में एकता, (iv) धैर्य - सदा धीरज रखना। इस दल पर जीव रहे तो बड़े से बड़ा दु:ख आने पर धैर्य रहता है। श्रीराम चौदह साल वन में ठोकरें खाते रहे, श्रीकृष्ण

गाय चराते घूमते रहे पर क्षणभर को भी धैर्य में कोई कमी नहीं आयी। हम पर कितनी भी विपत्ति आये चौदह साल वन में रहने की विपत्ति आती नहीं और न ही ग्यारह साल गडरिया बनकर रहना पड़ता है! (v) वैराग्य- पदार्थों के प्रति राग पर नियन्त्रण। (vi) धृति - जब शरीर-इन्द्रियाँ थकने से काम करने में सक्षम न हों उस समय भी उनसे कार्य कराने की सामर्थ्य धृति है। (vii) शिवता - कल्याण, (viii) हास्य - हर परिस्थिति में हँसना, प्रसन्नता का वातावरण बनाये रखना। परमात्मा का भरोसा रखकर जो साधना करता है उसमें सदा हँसी बनी रहती है। (ix) रोमांच - परमात्मा की किंचित् अनुभूति होने पर प्रसन्नता से रोमांच हो जाता है। (x) ध्यान, (xi)स्थिरता, (xii) गम्भीरता (xiii) उद्यम (xiv) सत्त्वं - सामर्थ्य, (xv) उदारता, (xvi) एकाग्रता। इस प्रकार ये सारे ज्ञान के साधन भारती स्थान में रहते हैं।

आज्ञाचक्र में दो कमल-दल हैं । तत्-त्वं पदार्थों का ज्ञान यहाँ रहता है। भ्रूमध्य में पहुँचने पर इनका अनुभव होगा। जब इसके आगे सहस्रार में जाते हैं, '*पंचाशीते: अधिकम्*', तब तत्त्वं पदों के लक्षार्थ का ज्ञान होता है। लक्षार्थ में जाने पर, भक्त कहता है, 'हे माता'! मैं आपके सहारे से हट चुका हूँ। अब तो मैं साक्षि ब्रह्म में स्थित हूँ। अब आपकी कृपा होवे या नहीं, मैं साक्षिभाव में स्थित रहूँगा, यहाँ पहुँचना भी है लम्बोदर जननी की ही कृपा। इन सारे चक्रों को उत्पन्न करनेवाली भगवती ही सब चक्रों से पार करा लक्ष्यार्थ में पहुँचाती है जहाँ कोई चीज़ विक्षिप्त नहीं कर सकती है।।५।।

श्वपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा
निरातङ्को रङ्को विहरति चिरं कोटिकनकै:।
तवापर्णे कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदं
जन: को जानीते जननि जपनीयं जपविधौ।।६।।

हे अपर्णा! आपके मन्त्र का एक अक्षर भी कान में पड़ने पर यह फल होता है कि श्वपाक भी मधुपाक जैसी वाणी से सम्पन्न हुआ बहुभाषणशील हो जाता है, रंक भी निर्भय हो करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं से सम्पन्न हुआ विहार करता है। माता! (जब एक अक्षर के श्रवण का यह प्रभाव है तब) जपनीय मंत्र जपने वालों की जपविधि पूरी हो जाने पर क्या फल मिलता है, यह कौन व्यक्ति जानता है!

जब भगवती घोर तपस्या में लगी थीं और पत्ते खाने भी छोड़ दिये तब उनका 'अपर्णा' नाम पड़ा। लता बिना पत्ते के हो जाती है तो उसका बचना कठिन हो जाता है इसी प्रकार पत्ते भी न खाने पर शरीर मरणासन्न हो जाता है। इतनी घोर तपस्या की इसीलिये उनका अपर्णा नाम से स्मरण होता है। भगवान् ने कहा है कि इस संसार वृक्ष के पत्ते वेद ही हैं। वेद के बिना यह संसार वृक्ष सूख जाता है। इस संसार वृक्ष की रक्षा करनेवाला वेद ही है। वृक्ष पत्तों द्वारा सूर्य-रश्मि रहते खाद व जल को मिला अपना भोजन स्वयं ही बना लेता है। हमारे शरीर में यह सामर्थ्य नहीं है कि जो जीवित संबंधी नहीं ऐसे खनिज मिलाकर पोषण पा लें। चीनी में कार्बन, हाइड्रोजन और पानी है, पर हम पत्थर का कोयला खा लें कि उसमें कार्बन है, जो चीनी बन जायेगा तो नहीं बन सकता है! यह शक्ति वृक्ष में, बेल में, पत्तों के कारण है। पत्ते में ऐसी सामर्थ्य है कि जो सर्वथा अन्न नहीं उसे अन्न में परिवर्तित कर देता है। इसी प्रकार वेदरूप पत्ते में वह ताकत है कि वह संसार में ऐसे कर्म करा देता है जो अपूर्व के द्वारा संसार वृक्ष को चलाते रहें। वेद के बिना पदार्थों को भोग तो सकते हैं पर आगे नये भोग उत्पन्न नहीं कर सकते हैं जैसे हम अन्न खा तो सकते हैं पर खाद्य सामग्री का निर्माण नहीं कर सकते हैं। किये कर्म तो वेद के अभाव में भी भोग लिये जायेंगे पर बिना वेद के ऐसे कर्म न कर सकेंगे जो आगे भोग देने में समर्थ होंगे। भगवती की तपस्या ऐसी प्रबल है कि वे पर्ण के भी सहारे रहे बिना परमात्माभिमुखी रहती हैं अर्थात् सारे वेद के कर्मकाण्डों को छोड़ सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक परमात्म-चिन्तन में लगे रहना अपर्णा होना है।

इस तप के कारण उनको ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई कि उनके मंत्र का कोई अक्षर भी कोई कान में सुन ले तो बड़ा भारी फल हो जाये। जो श्वपाक, अत्यन्त असंस्कृत पुरुष हो वह भी भगवती के मंत्र का एक अक्षर सुनने से मानो शहद से सनी हुई मीठी वाणी को अच्छी तरह बोल सकता है। कोशल देश में देवदत्तनाम का ब्राह्मण था। उसके कोई संतान नहीं थी। संतति-इच्छा से पुत्रेष्टि याग किया, तमसा नदी के किनारे। पुत्रेष्टि में चारों वेद के ज्ञाता आते हैं। गोभिल महर्षि सामवेद के ज्ञाता भी आये थे; वृद्ध थे, श्वास की बीमारी थी। वे वहाँ उद्गाता बने। याग में साम का भी गान करना पड़ता है। वृद्धावस्था और श्वास की बीमारी

के कारण बार-बार स्वरभंग हो जाता था! देवदत्त को गुस्सा आया, कहा 'मैं काम्यकर्म कर रहा हूँ इसमें तू बार-बार स्वर-भंगकर रहा है, तू मूर्ख है'। गोभिल महर्षि ने कहा 'मनुष्य के हाथ में श्वास चलाना नहीं। इतनी-सी बात पर तू मुझ पर क्रोध करता है! जा, तेरा पुत्र मूर्ख होगा'। देवदत्त ने विचार किया 'मैंने क्रोध कर बड़ा बुरा किया क्योंकि क्रोध के कारण दूसरों के हृदय मे जो आर्त भावना होती है वह क्रोधी पर प्रभावी होती है अत: क्रोधी कभी सुखी नहीं रह सकता'। गोभिल महर्षि के पैर पकड़कर क्षमा माँगी, प्रार्थना की 'भूल हो गई। शास्त्र में कहा है ब्राह्मण के लिये अपुत्र रहना मूर्ख पुत्र होनेकी अपेक्षा अच्छा है, मूर्ख ब्राह्मण को शूद्र समझा जाता है, किसी शुभकर्म में उसे नहीं लगाते। अत: आप कृपा कीजिये कि पुत्र मूर्ख न होवे'। गोभिल महर्षि ऋषि थे, स्वभाव से कृपालु थे। जल स्वभाव से ठण्डा होता है, आग में रख दिया जाये तो गरम हो जाता है पर आग ठण्डी पड़ने पर वापस ठण्डा हो जाता है। जब देवदत्त ने प्रार्थना की तो उन्हें दया आ गई, कहा 'तेरा पुत्र मूर्ख तो होगा पर आगे चलकर पण्डित हो जायेगा'।

बच्चा हुआ, उसका 'उतथ्य' नाम रखा। आठ वर्ष में यज्ञोपवीत हुआ। पढ़ाने लगे तो वेदमंत्र न पढ़ पाये! १२ वर्ष का हो गया संध्या मंत्र भी याद न हुये। दूसरे बच्चे मज़ाक उड़ाते थे। पिताजी डाँटते थे। चारों तरफ से निंदा ही निंदा सुनकर दु:खी होकर जंगल में गंगातट पर कुटी बनाकर रहने लगा। उसने दो नियम ले लिये -एक तो 'मुँह से सत्य ही बोलूँगा', दूसरा 'कभी किसी का अहित नहीं करूँगा'; ये नियम लेकर रहने लगा। बाकी तो वह पूजा-पाठ, गायत्री, मंत्र आदि कुछ नहीं जानता था। शूद्र की तरह बिना आचमन किये, मंत्र बोले बगैर गंगा में स्नान कर लेता था। फल तोड़कर खा लेता था। भक्ष्याभक्ष्य के भी विचार से रहित था। निरंतर सत्य का आचरण करने से उतथ्य 'सत्यतपा' नाम से प्रसिद्ध हो गया। १४ वर्ष तक इस प्रकार रहा। एक दिन बैठा था, क्षत-विक्षत हुआ सूअर वहाँ से निकला। किसी शिकारी ने बाण मारे थे पर तगड़ा था तो भाग निकला था। खून से भीगा निकलते देख उस पर दया

आई, दु:ख को देख शरीर काँपने लगा। उसी अवस्था में मुख से 'ऐं ऐं' - शब्द निकला। 'ऐं' सारस्वतबीज मंत्र है; उसे तो यह पता नहीं था पर भगवती का जो सारस्वतबीज है 'ऐं', इसका उच्चारण उससे हो गया। तब तक पीछे से शिकारी आया, पूछने लगा 'तू सदा सत्य बोलने वाला है, बता सूअर किधर गया'? वह विचार करने लगा कि जहाँ हिंसा हो वह सत्य भी सत्य नहीं। दया से युक्त असत्य भी सत्य है। जिससे लोगों का कल्याण हो वही सत्य है, जो लोगों का नुकसान करनेवाला है वह सत्य नहीं। मैं इसे क्या जवाब दूँ? 'ऐं ऐं' शब्द के उच्चारण से भगवती प्रसन्न हो गईं, प्रसन्न होने में बीज-उच्चारण कारण बन गया। उसके इस प्रकार से बीज कहने पर भगवती शिवा ने उसे विद्या दे दी। जिनके लिये लोग दीर्घकाल तक तपस्या करते हैं, वे सारी विद्यायें उसे प्रस्फुरित हो गईं, विद्या का रहस्य उसके सामने आ गया। उसको जवाब दिया 'जो आँख देखती है वह बोलती नहीं, जो जबान बोलती है वह देखती नहीं! तू बार-बार पूछ रहा है पर इससे क्या सिद्ध होना है'! शिकारी चला गया। आगे उतथ्य विद्वान कवि हुआ, पिता के पास गया, उन्होंने उसे स्वागत के साथ रखा।

अत: कहते हैं कि शूद्र के समान होने पर भी इस प्रकार बिना जाने बीज़मंत्र का उच्चारण किया तो इतना बड़ा फल हुआ कि पण्डित हो गया। केवल विद्या ही नहीं, रंक अनंत धनादि को प्राप्त कर लेता है:

कोशल देश में ध्रुवसंधि राजा के मनोरमा और लीलावती दो पत्नियाँ थीं। दोनों के एक-एक पुत्र थे सुदर्शन व शत्रुजित्। एक ही मास में, एक ही पक्ष में पैदा हुये दोनों बराबर आयु के थे, सारे संस्कार साथ-साथ हुये। एक बार राजा शिकार के लिये गया, अकस्मात् शेर सामने आ गया, राजा पर कूदा। राजा ने तलवार से सामना भी किया, शेर जबरा था, साथ वालों ने बाण मारे लेकिन शेर मरा पर राजा भी मारा गया। कुलपुरोहित वशिष्ठजी की सन्निधि में अन्त्यकर्म किये गये। दस दिन बीतने पर सारे लोगों को बुलाकर कहा कि सुदर्शन को राजा बनाया जाये, वह योग्य भी है। इस बीच में लीलावती के पिता, जो उज्जैन के राजा थे, उनको भी राजा के मारे जाने की खबर मिली, वे आये।

मनोरमा के पिता, वीरसेन जो कलिंग के राजा थे, वे भी आये। जब देखा कि सुदर्शन को राज्य देने की तैयारी है तब अवन्ति-नरेश कहने लगे 'मेरे दोहिते को राजा बनाओ'। यह बात दूसरे लोगों को स्वीकृत नहीं थी तो उसने लड़ाई छेड़ दी जिसमें वीरसेन की हार हुई, वह मारा गया। मनोरमा ने सुना तो विचार किया 'मेरा पिता इस प्रकार मारा गया, मेरे भाई की सामर्थ्य इतनी नहीं कि उज्जैन के राजा से लड़ सके। यह अभी लोभ से भरा है मुझे व मेरे बेटे को भी मारेगा'। पुराने मंत्री विदल्य को बुलाकर पूछा, उसने सलाह दी 'काशी चलें, वहाँ मेरा मामा सुबाहु है, उससे मदद मिलेगी'। विदल्य एक दासी को लेकर मनोरमा व सुदर्शन के साथ चल दिया। रास्ते में लूटेरों ने लूट लिया! रंकावस्था में चित्रकूट पहुँचे। भारद्वाजमुनि को जाकर बताया कि 'अवन्तिराज ने पिता को मारा और पति भी मर गया, जान बचाकर भागे हैं'। भारद्वाज मुनि ने कहा 'कोई भय की बात नहीं, रहो'। जब मनोरमा सुदर्शन को ले कर चली गई तब शत्रुजित् को कोशल की गद्दी पर बैठा दिया गया। अवन्ति- नरेश वापस जा रहे थे तो रास्ते में भारद्वाज मुनि का आश्रम आया। वहाँ गये तो सुदर्शन और उसकी माँ को देखा, कहा 'ये भाग कर आये हैं, हमें दे दो'। भारद्वाज महर्षि ने कहा 'ये शरण में आये हैं, नहीं देंगे'। राजा ने कहा 'नहीं दोगे तो जबरदस्ती ले जाऊँगा'! महर्षि कहने लगे 'ब्रह्मबल से नहीं लड़ो, नुकसान होगा'। राजा के मंत्री ने भी कहा 'ये भाग कर आये हैं, मारकर क्या लाभ'! सबके मन में बात आई तो राजा चला गया।

सुदर्शन वहीं रहकर पढ़ने लगा। मुनिपुत्र उसे 'क्लीब' कहते थे, भाग कर आया था अत: क्लीब कहते थे। सुदर्शन बच्चा था, क्लीब नाम समझ में आया नहीं, नाक से उच्चारण कर 'क्लीं क्लीं' कहने लगा! इस प्रकार भगवती का बीज़मंत्र 'क्लीं' उसके कान में पड़ गया। न ऋषि, न छन्द, न न्यास, न ध्यान का ज्ञान, बस क्लीं शब्द अच्छा लगा तो खेलते-खेलते भी क्लीं-क्लीं कहता रहता। **११**वें वर्ष में उसके अंदर विद्या के अभ्यास की सामर्थ्य आ गई। देवीजी ने उसे दर्शन देकर धनुष-बाण व तरकस देकर कहा 'तू शीघ्र राजपद प्राप्त

करेगा'। इस बीच काशिराज की कन्या शशिकला को देवी ने स्वप्न में सुदर्शन को दिखा दिया, उसे भी अत्यन्त प्रेम हो गया। एक दिन वह भगवती की पूजा के लिये फूल चुन रही थी कि भारद्वाज मुनि आश्रम का एक पण्डित आया। उससे सुदर्शन के बारे में पूछा। पण्डितजी कहने लगे 'है तो सुंदर पर पास कुछ नहीं है'। शशिकला ने सुदर्शन को संदेश भेजा कि 'मेरा विवाह होनेवाला है आप आके मुझे ले जाना'। उसने अपने माँ-बाप से भी कह दिया कि 'मुझे सुदर्शन से ही विवाह करना है'। पर वे माने नहीं और स्वयंवर की तैयारी हो ही रही थी। अवन्तिराज अपने दोहिते शत्रुजित् के साथ आया था और अपने साथ फ़ौज भी लाया था। माँ-बाप ने बहुत समझाया पर लड़की मानी नहीं। उधर विदल्य के मामा सुबाहू ने भी समझाया कि सुदर्शन आ जाये तो क्या हर्ज है? काशिराज ने समझाया कि लड़ाई की संभावना हो जायेगी। सुदर्शन को समझाया कि 'तुम्हारा शत्रु अवन्तिराज भी आया है मार डालेगा'। सुदर्शन तो क्लीं जप करता था, कहने लगा 'मुझे तो कोई शत्रु संसार में प्रतीत होता नहीं, भगवती ही सब खेल करती दिखाई देती है उसी की प्रेरणा से आया हूँ और युद्ध करना ही पड़ेगा तो कर लूगाँ'। सबको बात जँच गई।

स्वयंवर के लिये राजाओं से कहा कि 'आज नहीं', स्वयंवर कल होगा और रात में ही सुदर्शन से शशिकला का विवाह कर फ़ौज देकर विदा कर दिया! राजाओं को पता लगा तो आक्रमण करने आये। काशिराज ने कहा 'लड़की मानी नहीं तो क्या करूँ? देखो, वह जा रही है'। बाकी राजाओं ने कहा 'ठीक है, लड़की ही नहीं माने तो क्या करें! ठीक है'। अवन्तिराज ने कहा 'मैं तो लड़की को शत्रुजित् के लिये ले जाऊँगा'। युद्ध के लिये गया तो रास्ते में ही सिंहवाहिनी प्रकट हो गई और अवन्तिराज और शत्रुजित् को मार दिया, बाकी फ़ौज भाग गई। भगवती ने सुदर्शन से 'कहा तेरे इस क्लीं मंत्र के जप के कारण मैं आई हूँ, वरदान माँग ले'। कहने लगा 'सब कुछ दे दिया! अब क्या माँगू? यहीं रह कर सबका कल्याण करो'। तब से भगवती काशी में दुर्गाकुण्ड में रह गईं, वहीं युद्ध हुआ था। वशिष्ठजी आये, सुदर्शन

को अयोध्या का राजा बनाया। इस प्रकार रंक, जिसका कोई सहारा नहीं, वह भी चारों तरफ से धन पा कर बिना आपत्ति के विहार करता है।

न उसने विधिवत् 'ऐं' ग्रहण किया था न इसने 'क्लीं' को विधिवत् ग्रहण किया था। जब बिना विधि के ये फल हैं तो न्यासादि विधि सहित जप करने का फल क्या होगा कौन कहे! अर्थात् वास्तविक विधि जानकार जप किया जाये तो मोक्ष तक की प्राप्ति हो जाती है। ऐं, क्लीं - ये बीज ईश्वर के प्रतिपादक मंत्र हैं। ।।६।।

चिताभस्मालेपो गरलमशनं दिक्पटधरो
जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः।
कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीं
भवानि त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्।।७।।

चिता की भस्म का लेप करने वाले, कालकूट का भक्षण करने वाले, दिशामात्र को वस्त्ररूप से धारण करने वाले, जटाधारण करने वाले, कण्ठ में सर्पराज की माला पहनने वाले, हाथ में कपाल रखने वाले भूतनाथ पशुपति जो जगत् के एकमात्र ईश का पद पाये हैं वह आप से विवाह की व्यवस्था का ही फल है!

भगवान् शंकर का वर्णन करते हैं भगवान् शंकर कैसे हैं? संसार में साधारण लोग सबसे ज़्यादा भय चिता से खाते हैं और उसे अत्यन्त अपवित्र मानते हैं। चिता का धुआँ भी लग जाये तो आकर स्नान करते हैं। चिता का स्पर्श करने वाले को तो शुद्ध होने में दस दिन लग जाते हैं। ऐसी अत्यंत अमांगलिक चिता का भस्म भगवान् शंकर अपने ऊपर लगाये रहते हैं! इसलिये उन्हें कोई अपवित्र नहीं कर सकता। संसार में लोग भोजन का बड़ा ध्यान रखते है कि उसमें किसी प्रकार का दोष न आ जाये। भगवान् शंकर घोर जहर पीते हैं जो मृत्यु तक देता है! अत: कभी चिंता मत करो कि भगवान् शंकर को अमुक वस्तु का भोग लगा सकते हैं या नहीं। जो जहर पीने वाले हैं उन्हें क्या चीज़ कुपथ्य करेगी! वे जहर पीते हैं संसार के कल्याण के लिये। जो जहर संसार को समाप्त करे उसे ही वे पीते हैं। और दिशाओं को उन्होंने वस्त्र बनाया है अर्थात् दिगम्बर हैं। लोक में मनुष्य सब चीज़ो की शर्म छोड़ देता है पर नग्न नहीं घूमता। भगवान् शंकर सर्वथा नग्न

ही रहते हैं अर्थात् संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो उनके परिग्रह का हेतु बने। लोकलाज की वजह से कोपीन का परिग्रह परमहंस भी करता है पर भगवान् के पास वह भी नहीं। सिर में जटा धारण करते हैं। व्रत पूर्वक जो सिर पर बाल धारण किये जाते हैं उन्हें जटा कहते हैं। खाली बाल रखने से कोई जटाधारी नहीं। शिव सदा ही जटा धारण करते हैं, संसार में उनका व्रत कभी समाप्त नहीं होता है। साँप से सब भय खाते हैं। साँप गले में लिपट जाये तो फिर डर का क्या कहना! किंतु साँपों के अधिपति वासुकि को भगवान् ने कण्ठ में हार की तरह पहन रखा है! इतना ही नहीं, पशुपति हैं - चारों तरफ पशुओं को रखते हैं। लोक में पशुपालक गडरिया इत्यादि निकृष्ट माना जाता है उसके हाथ का पानी तक नहीं पीते। पशुपति होना भी उनकी विशेषता को बताता है। कपाली- हाथ में सदा खोपड़ी को रखते हैं उसी में भोजनादि कर लेते हैं। लोक में खोपड़ी अथवा कोई भी नरास्थि सदा अपवित्र मानी जाती है, भगवान् उसी में खाते हैं। भूतेश हैं, साथ में भूत-प्रेत रखते हैं। इस प्रकार एक भी गुण शंकरजी में ऐसा नहीं जिससे उनकी महिमा होवे। जितने गुण इनके बताये, संसार की दृष्टि से उनमें से एक भी सुयोग्यता प्रकट करने वाला नहीं।

फिर भी भगवान् शंकर को जगत् का ईश कहा जाता है! हे भवानी! आप सर्वसमर्थ, सारी योग्यता वाली हैं, आपका उन्होंने पाणिग्रहण किया है। आपके पति होने की परिपाटी का यह फल है कि वे जगदीश हैं। संसार की दृष्टि से परब्रह्म परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है तो उनकी मायाशक्ति के कारण ही, अन्यथा कोई ईश्वर है ही नहीं। संसार के सब व्यवहारों में उनकी ज्ञान, इच्छा, क्रिया शक्ति प्रकट होती है तभी ईश्वर कहे जाते हैं। अप्पय दीक्षित के बारे में प्रसिद्ध है कि एक बार वे राजा के यहाँ से सम्मान प्राप्त करके पालकी में ससुराल जा रहे थे। किसी ने पूछा 'कौन जा रहा है'? एक ने कहा 'अप्पय दीक्षित जा रहे हैं'। सुनने वाले को कुछ समझ नहीं आया। अंत में अप्पय की पत्नी का नाम लेकर कहा कि 'अमुक लड़की के पति हैं', तो झट समझ गया! इसी प्रकार ईश्वर का सारा परिचय भवानी के नाते है। लोक में जीव भी जगदीश है। जगदीश की पदवी जीव को कब मिलती है? अपने शरीर में

आग निरंतर है, जब आग निकल जाये तब कहते हैं - ठण्डा पड़ गया। शरीर को जहाँ जलाते हैं वही तो चिता है! जीव जलते शरीर में अर्थात् चिता में ही मौजूद है। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श जहर हैं; जीव निरंतर इस विषयरूपी जहर को खा रहा है। जैसे पट का ताना-बाना होता है वैसे ही जीव सब दिशाओं में भटकता रहता है, रात-दिन दौड़ता रहता है। यह जटाधारी भी है: जटा हमेशा कष्ट सहन को बताती है। जीव रात-दिन कष्ट को मान कर भी उसे धारण करता है। कहता भी है 'मैं कितना कष्ट-सहन कर रहा हूँ'! संसार में रात-दिन जो डण्डा खाते हैं, उसको समझते हैं बड़ा कष्ट सहनकर रहे हैं।

'कण्ठे भुजंगपतिहारी'; साँप मन को बतलाता है। साँप के पैर नहीं होते, इसी प्रकार मन के अपने पैर नहीं हैं। कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों से वह काम करता है। सर्प और मन को जगह-जगह एक माना है। ऐसा जो सर्प है, मन है, उसे जीव कण्ठ में डाले हुये हैं; जीव के कण्ठ को मन पकड़े हुये है अत: जीव मन में ही फँसा रहता है। ऐसा यह पशुपति है: पाश में जो फँसा हो वह पशु है। पाश में फँसे हुये जीवों में मुमुक्षु सबसे श्रेष्ठ हैं अत: पशुपति हैं क्योंकि वह ज्ञान पाकर मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। कपाली - 'क' मायने ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ। हिरण्यगर्भ का पालन करनेवाली ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति हैं, इन शक्तियोंवाला ही जीव है। 'भूतेषु' - पंच महाभूतों द्वारा नियमित हुआ पड़ा है। परंतु यदि यह जीव उस भगवती के पाणिग्रहण अर्थात् उनके हाथ का अवलम्बन ले लेवे तो उनकी शरणता से श्रवण मननादि की प्राप्ति होगी। श्रवण-मननादि के फलस्वरूप ज्ञान से जीव ईश्वर की एकता, जगदीशरूपता की प्राप्ति है। परमात्मा की जो विद्या शक्ति है उसका सहारा लेने का यह फल है।

अथवा जगदीश मायने जो अधिष्ठान ब्रह्म है वह भवानी के पाणिग्रहण से अर्थात् विद्याशक्ति से संबंध हाने पर चिताभस्म वाला हो जाता है। यद्यपि वह परमात्मा किसी बाध का स्वरूप नहीं पर व्यवहार होता है, कि वह बाधावधि है या बाध से उपलक्षित है। अत: वह चिताभस्मालेपी है। अविद्या ही सबसे बड़ा जहर है, उस अविद्या को ब्रह्म ने समाप्त कर लिया, मानो खा लिया। जैसे सूर्य ही सूर्यकान्तिमणि में चढकर घास को जलाता है वैसे ही ब्रह्म ने अखण्डाकार वृत्ति में आरूढ़

होकर अविद्या को नष्ट कर दिया, ऐसा कहा जाता है। दिक्पटधर - दिक् का एक अर्थ आकाश भी है यह भूताकाश कहा जाता है, इसके अंदर चिदाकाश है। चिदाकाश में भी जो व्यापकता है वह विद्या की दृष्टि से, अन्यथा उसमें व्याप्यव्यापक-भाव नहीं। जटाधारी - जटा का एक अर्थ मूल भी होता है। वह ब्रह्म ही मूल संकल्प करनेवाला भी विद्या की दृष्टि से ही है अन्यथा उसके अंदर संकल्प कहाँ! विद्या की दृष्टि से इसलिये कि जीव विद्या पायें इसी उद्देश्य से सृष्टि बनायी जाती है। भुजगपतिहारी - कुण्डिलिनी ही भुजगों में श्रेष्ठ है। उसको कण्ठ-स्थल में लाकर ही शिव नष्ट करनेवाला है। पशुपति - वह परमात्मा ही बिम्बरूप से जीवरूपी पशुओं का पति कहा जाता है। सारे जीवरूप प्रतिबिम्बों का पालन बिम्ब ही करता है। यह भी भवानी विद्या की दृष्टि से कहा जाता है। कपाली - 'कप' मायने चंचल गति; ये सारी चंचल गतियाँ उसके अंदर ही लीन होती हैं इसलिये उसे प्रपंचोपशन कहते हैं। विद्या से उसमें प्रपंच विलीन होता है। भूतेषु - परमात्मा इन सब भूतों को उत्पन्न करनेवाला (वेदरूप) विद्याशक्ति से ही कहा जाता है, सारे जगत् का कारण कहा जाता है यद्यपि वह कभी कारण नहीं। विद्याशक्ति से युक्त होने पर ब्रह्म जगदीश्वर कहा जाता है। उसी विद्या का सहारा लेने पर जीव ईश्वर से एक हो जाता है।।**७**।।

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः।।८।।

हे चन्द्रमुखी जननी! मुझे न मोक्ष की आकांक्षा है, न संसार के वैभव की कामना है, न किसी विशेष अनुभव की आवश्यकता है, न सुख की ही इच्छा है। इसलिये आपसे याचना करता हूँ कि 'मृडानी, रुद्राणी, शिव-शिव, भवानी' - यह जप करते हुये ही मेरा जन्म बीत जाये।

इच्छा दो तरह की चीज़ों की हुआ करती है - एक, जो अपनी चीज़ है वह अपनी बनी रहे और दूसरी, जो दूसरे की चीज़ है मुझे प्राप्त हो जाये। संसार में आत्मा व अनात्मा दो पदार्थ हैं। आत्मा, आत्मा बना रहे - यह एक इच्छा; आत्मा को अनात्मा की प्राप्ति हो जाये - यह दूसरी इच्छा। जिसने जान लिया कि आत्मा का अनात्मा से संबंध

कभी हो ही नहीं सकता है उसे अनात्मा को पाने की कभी इच्छा नहीं। जिस चीज़ का मेरे साथ संबंध ही नहीं हो सकता उसकी इच्छा कैसे! जैसे बच्चा दर्पण में दूसरे बच्चों को देखता है, समझता है वे मुझसे खेल सकते हैं, अत: उन्हें बुलाता है; पर हम नहीं बुलाते, क्योंकि जानते हैं कि वे कोई हैं नहीं - अत: आ नहीं सकते। इसी प्रकार संसार का आत्मा से संबंध कभी हो नहीं सकता और आत्मा कभी स्वभाव से हट नहीं सकता, अत: समझदार को दोनों तरह की इच्छा नहीं होती है। लोक में भी जो तुम्हारी चीज़ है ही उसे पाने की इच्छा का कोई सवाल नहीं और क्योंकि वह हमेशा तुम्हारे साथ है इसलिये वह बनी रहे यह भी इच्छा नहीं होती। इसी प्रकार आत्मा है जो आत्मा होने से अपने स्वरूप से निवृत्त नहीं हो सकता। अत: - कोई चीज़ विद्वान की इच्छा का विषय नहीं बनती। आत्मा मोक्ष का स्वरूप है, भ्रान्ति से हुआ बंधन मिटने के कारण उसे मोक्ष कहा जाता है। आत्मा भ्रम से अपने को बद्ध समझता था, वह भ्रान्ति हट गई तो स्वयं को मुक्त जानता है। मुक्त तो बंधानुभवदशा में भी था, वस्तुत: मुक्त होते हुये भी भ्रम से समझता था कि बद्ध हूँ। आत्मा स्वरूप से नित्यमुक्त है अत: मोक्ष की आकांक्षा योग्य नहीं।

भवविभव - संसार का वैभव अनात्मा का वैभव है। भव मायने होते रहना; जो चीज़ जितनी बदले उसे उतना वैभववाला कहा जाता है। संसार की सब चीज़ें बदलनेवाली हैं। कोई पुराना मकान है, रंग-रोगन नहीं होता तो उसका कोई वैभव नहीं कहा जाता। यदि पुताई-रंगाई होती रहे तो कहते हैं कि 'कितना वैभव है'। संसार में परिवर्तन को वैभव कहते हैं। अत: निरंतर होनेवाले का नाम विभव है। मैं चूँकि अस्तिरूप हूँ अत: 'होना' मेरा स्वरूप नहीं अत: मुझे परिवर्तन के वैभव की कोई इच्छा नहीं।

विज्ञानापेक्षा, ब्रह्म के अनुभव की इच्छा होगी - यह संभावना दूर करते हुये कहते हैं - तो कहते हैं ब्रह्म का अनुभव कैसे होवे! ब्रह्म तो अनुभवरूप है। ब्रह्म का अनुभव हो तो मैं ब्रह्म न रहूँ जबकि यह बात है नहीं। अज्ञाननाश के लिये वृत्ति की अपेक्षा है पर ब्रह्मज्ञान के लिये अनुभव की अपेक्षा नहीं। सुखेच्छा भी नहीं - सुख मेरा स्वरूप है अत: सुख की इच्छा भी सम्भव नहीं। अत: सब इच्छाओं से रहित हूँ।

हे जननी! आपने मुझे उत्पन्न किया है। 'इतने प्रारब्ध कर्म हैं, उन्हें भोगना है' - यही निर्णय उसकी जननी-रूपता है। अत: जो भी मेरा जनन है, प्रारब्धकर्म का भोग है, वह किस प्रकार से होवे? प्रारब्ध जो भी भोग कराये वह मेरी दृष्टि में मृड हो। भगवती का सच्चिदानंदरूप हर अनुभव में प्रकट होवे अत: मुझे सब भोग सुखरूप ही प्रतीत हों। जो सारे संसार को नष्ट करे वह रुद्र। अखण्डाकार वृत्ति ही रुद्र है वह बनी रहे तभी अज्ञान और उसके कार्य का बाध होगा। ' रुद्राणी' कहकर प्रार्थना की कि जन्मभर तत्त्वबोध की जागरुकता बनी रहे। 'भवानी' - आप ही अविद्या द्वारा संसार के रूपों में हो रही हैं। आपके सिवाय कुछ नहीं है। 'जप' मायने अव्यक्त वाणी; ये मुँह से कहने की जाति नहीं हैं, ये अंदर के भाव हैं। किंच आप 'शशिमुखी' हैं। चंद्रमा की विशेषता है कि उसके बीच में जो कुछ कालिमा है वही उसकी शोभा बढ़ाती है। काला धब्बा रहते ही पूर्ण चंद्र का दर्शन होता है। इसी प्रकार भगवती के रूप में सच्चिदानंदरूपिणी का दर्शन है, आवरण हट गया है पर विक्षेपशक्ति मौजूद है। संसार के अंदर जो आह्लाद है वही मृडानी-रुद्राणी रूप से प्रकट होना है। वस्तुत: तो शिव ही है, उसमें किसी का संस्पर्श नहीं। आवरण हटने पर भी रहने वाली विक्षेपशक्ति भगवती ही है।।८।।

नाराधिताऽसि विधिना विविधोपचारै:,
किं रूक्षचिंतनपरैर्न कृतं वचोभि:।
श्यामे त्वमेव यदि किंचन मय्यनाथे
धत्से कृपामुचितमम्ब परं तवैव ।।९।।

हे श्यामा! अनेक तरह के सामग्री-समर्पण से विधिपूर्वक आप मेरे द्वारा आराधित नहीं हुईं, रूखे चिन्तन में तत्पर मेरे वचनों द्वारा क्या (-क्या) (दोष) नहीं कर लिये गये। परन्तु यदि आप ही मुझ अनाथ के प्रति कृपा को कुछ धारण किये हैं तो आपके लिये उचित ही है।

यदि, जैसा शास्त्रों में बताया है वैसा, भिन्न-भिन्न सामग्री द्वारा उपचारों द्वारा, आपकी पूजा की होती तो उसके फलस्वरूप आपकी कृपा हुई होती और मेरी यह स्थिति न हुई होती। पर मैंने वह सब कुछ नहीं किया। शास्त्रों में कहा है परमात्मा को नमन करो। नमन करें तो पूजा हो जाती है। मनु कहते हैं कि परमात्मा के जपमात्र से भी

कल्याण हो जाता है। जब नमस्काररूप एकोपचार भी नहीं किया तो पंचोपचार, षोडषोपचार आदि पूजन का प्रश्न ही कहाँ! शास्त्रों में अनेक उपचारों को बताया है पर मैंने एक भी नहीं किया। वस्तुत: सब उपचार संवित् के ही हैं। जब हम घड़े को जानते हैं तब 'घट है' इस उपचार के साथ जो ज्ञान है वह ही तो संवित् है। यदि घट इस नाम-रूप को हम संवित् के अर्पण कर देते हैं तो संवित् की आराधना हो जाती है। स्वरूप से घट भी संवित् में ही है। उसके नाम-रूप को बाधित कर संविद्रूप देखने से उसकी आराधना हो जाती है। लोक में भी यदि किसी व्यक्ति ने कोई ग़लती की तो न हो पर लोगों ने उस पर गलती आरोपित कर दी हो जैसे कोई व्यक्ति चोर-बाजारी नहीं करता लेकिन लोगों ने उस पर ऐसा आरोप किया हो। इस दशा में यदि कोई व्यक्ति सबके सामने कहे 'ये चोर-बाजारी नहीं करते, अमुक भ्रम के कारण इन पर लांछन लगा दिया गया है'। तब उस व्यक्ति के मन में होता है कि 'इसने मेरी पूजा की, आराधना की'। सचमुच में तो उसने कुछ हटाया नहीं झूठा लांछन लगा था, उसे धो दिया। या - रस्सी पड़ी है, उसमें आरोप हो गया कि यह साँप है; हमने साँप का बाध कर दिया कि यहाँ साँप नहीं है। यही रस्सी की आराधना हुई। बढ़िया सोने का हार धूल पड़ी होने के कारण चमकता नहीं। धूल के अंदर सोना तो पहले भी चमकता था ही, यदि हमने धूल को हटा दिया तो धूल हटाने से चमक आ नहीं गई फिर भी कहा जाता है कि हमने हार को चमका दिया। आरोपित धूल को हमने हटा दिया तो हमने उस हार की आराधना की। इसी प्रकार संवित् (ज्ञान) के ऊपर हमारी दृष्टि - अंत:करण, इन्द्रिय इत्यादि - घट-पट का आरोप करती रहती है। वहाँ है क्या? भगवती। उस भगवती पर हमने आरोप कर दिया 'यह आदमी है, घोड़ा है, घट है' आदि। यदि हम इस नाम-रूप को हटा देते हैं तो भगवती की आराधना हो गई। उपाधिवाला प्रत्येक ज्ञान जो सामने आता है वह उपचार है। उसको उक्त विधि से हम उपचार बना दें तो संवित् की आराधना हो जाती है। परंतु मोहवश इस प्रकार मैंने नाम-रूप बाधित कर आपकी उपासना नहीं की।

पूजा में जो उपचार हैं उनका भी आधार यही है। नम: को क्यों पूर्ण यज्ञ कहा है? एक लक्षण

के अनुसार व्यावहारिक पदार्थ वही हैं जो प्रमाता के बाध न होने तक बने रहें। नम: के अंदर अहं का त्याग होने से ही अर्थात् प्रमाता का बाध होने के साथ ही सारे व्यावहारिक उपचारों का बाध हो जाता है। अत: भगवती को नमस्कार करा तो पूरी पूजा हो गई। पंचोपचार - रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श, इन पाँच के बाध को बताने को ही विहित हैं। इसी प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण व मन - इन सोलह से ही हम चीज़ों का ज्ञान या चीज़ों के साथ क्रिया करते हैं। अत: इन सोलह के बाध को बताने के लिये षोडषोपचार कहे हैं। इसी प्रकार चाहे विस्तार से बतायें, चाहे संक्षेप से, भगवती के पूजन में इन उपचारों से पूजा करना रूप,रस,गंध, शब्द और स्पर्श का अर्पण ही है। मैंने इन उपचारों से आपका पूजन नहीं किया।

मैंने एकदम रूखा चिंतन किया, प्रेम से चिंतन न किया। मैंने माना कि परमात्मा केवल निमित्तकारण है उपादान कारण नहीं हो सकता। परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता में दोष देखा। सोचा कि परमात्मा केवल कर्मफलदाता ही हो सकता है, सिवाय कर्मफल के और कुछ नहीं दे सकता। यों रुक्ष चिंतन से दोष परमात्मा की सामर्थ्य में लगाया। इसी प्रकार अन्तर्यामी बहिर्यामी रूप से परमात्मा क्या कर सकता है, क्या नहीं कर सकता है - आदि सीमायें मानीं। यदि वह साकार है तो निराकार कैसे हो सकता है? निराकार साकार नहीं हो सकता है! - इस प्रकार तरह-तरह से परमात्मा को सीमित करता रहा। ये तो भारत की बातें हैं। अन्यत्र परमात्मा को और सीमित करते हैं: परमात्मा को सदोष कहते हैं कि अमुक मसीहा या अमुक पैगम्बर के अनुयायियों को ही वह स्वर्ग देगा, अन्य जीव सदाचारी रहे हों तो भी उन्हें नरक ही भेजेगा, इत्यादि। परमात्मा पर तरह-तरह की शुद्रताओं को आरोपित करते हैं। मैंने भी युक्तिजाल में फँसकर आपकी अनिर्वचनीय माया पर नियंत्रण करने की कोशिश की पर वह अनिर्वचनीय माया शक्ति असीम है! जिसके प्रति प्रेम नहीं है उसके बारे में कोई कहे 'इसमें यह दोष है' तो व्यक्ति झट मान लेता है। पर जिसके प्रति प्रेम है, उसका दोष झट से नहीं माना जाता। तुम्हारे पुत्र ने चोरी की, कोई कहे, तो नहीं मानते हो, कहते हो 'वह ऐसा करता ही नहीं'। जहाँ स्नेह होता है वहाँ दोष स्वीकारने की सम्भावना सहज नहीं होती। मैंने तो भक्तिरहित हो चिंतन

किया, आपके ऊपर न जाने कैसे-कैसे दोषों को आरोपित किया! ऐसा होने पर भी यदि ऐसे मुझ अनाथ के ऊपर आप कृपा रखती हैं तो उचित ही है क्योंकि आप अहैतुकी कृपा करनेवाली हैं।

भगवती 'श्यामा' हैं। एक बार भगवान् शंकर ने पार्वती से हँसी में कहा 'तू कहाँ से काली मिल गई'! भगवती ने कहा 'पहले क्यों नहीं कहा कि काला रंग अच्छा नहीं लगता? मैं काले रंग को बदल लूँगी'। भगवान् ने कहा 'हँसी में कहा' पर भगवती बोली 'क्षणभर को भी यह भाव आ गया तो भी मैं तपस्या करने जाती हूँ'। जाकर ब्रह्मा के निमित्त तपस्या की। ब्रह्माजी प्रकट हुये, पूछा 'मेरे निमित्त तपस्या क्यों की आज्ञा दे देतीं'? भगवती ने कहा 'काम ऐसा है कि आज्ञा नहीं दे सकती। मैं आज्ञा तभी दे सकती हूँ जब भगवान् शंकर की स्वीकृति हो। यह काम मैं उनसे बिना पूछे कर रही हूँ'। हमारी प्राचीन दृष्टि के अनुरूप माँ पिता से पूछे बिना पुत्र को आज्ञा नहीं दे सकती है। 'भगवान् शंकर के लिये ही गोरा रंग माँगना है अत: मैंने तपस्या की है। तुम्हें करना यह है कि रंग गोरा ही बचे'। ब्रह्माजी ने ऊपर के काले रंग की खोल हटा दी तो अंदर देवी का रंग गोरा ही है! भगवती की खोल, चेतन की खोल अचेतन ही होती है। संहार के लिये उस खोल ने काली रूप धारण किया। 'श्यामे!' सम्बोधन से भक्त कहता है कि जैसे आपके ऊपर काले रंग का आरोप भगवान् शंकर को पसन्द नहीं था तो आपने उसे हटा दिया, ठीक इसी प्रकार आपके पुत्र मुझे, संसार का कर्ता-भेक्तापना प्रिय नहीं है, मैं दु:खी हो गया हूँ अत: वैसे ही मेरे लिये भी वह उतार दीजिये। 'हे अम्बे' आप माता हैं, यदि यह कृपा आप मेरे लिये धारण करती हैं तो आपके लिये यह उचित ही है।।९।।

आपत्सु मग्न: स्मरणं त्वदीयं
करोमि दुर्गे करुणार्णवेशि।
नैतच्छठत्वं मम भावयेथा:
क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति।।१०।।

हे दुर्गे! करुणासमुद्र की ईश्वरी! मैं आपत्तियों में डूबने पर आपको याद कर रहा हूँ यह मेरी दुष्टता मत समझें क्योंकि भूख-प्यास

से परेशान होने पर ही तो बच्चे माँ को याद करते हैं।

विद्वानों के लिये आपत्ति क्या है? अपने को जन्म-मरणवाला संसारी जीव समझना ही आपत्ति है। अपना जो वास्तविक स्वरूप है वह सम्पत्ति है, आत्मरूप से अतिरिक्त जो है वह सदा विपत्ति है। 'स्वस्वरूपं भवेत् सम्पत् तदन्यत् सुधियां विपत्' मैं इस जीवभाव में पड़ा हुआ हूँ, कई जन्मों से पड़ा हुआ हूँ। कई चीज़ें ऐसी होती हैं जिनके होने पर भी हमें उनका ज्ञान ही नहीं होता। जैसे छोटा बच्चा कभी-कभी ट्टटी में लिपटा रहता है तो उसे बोध नहीं होता। जब बच्चा थोड़ा बड़ा होता है तब पता लगता है कि यह गंदगी है, तब रोने लगता है। गंदगी में पहले भी रहता था और अब भी है पर पहले उसका ज्ञान नहीं था। इसी प्रकार जीवरूप मैं संसार में अनादि काल से हूँ पर मुझे यह पता नहीं था कि सचमुच में यह मेरे लिये आपत्ति है। अब सत्संग मिल गया, अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ, तब पता चला कि कितने अज्ञान में पड़ा हूँ! इसीलिये आपको याद कर रहा हूँ, कि मुझे इसमें से निकालिये 'दुर्गे'! आपकी वास्तविकता को मैं समझ सकूँ, यह दुर्ग है, कठिन है। आपके स्वरूप को समझना, उस समझ पर स्थिर रहना मेरे लिये अत्यंत दुष्कर है। पर आप करुणा के समुद्र की ईश्वरी हैं, करुणा समुद्र आप में भरा है। अत: आप यह ज्ञान मुझे करवा सकती हैं।

यह मेरी दुष्टता नहीं है कि मैंने कुछ साधन किया ही नहीं फिर भी आपका भरोसा करता हूँ। यदि कोई काम करने में मैं समर्थ हूँ फिर उसे न करूँ तब दुष्टता है। किन्तु आप दुर्गम होने से आप का साक्षात्कार मैं कर ही नहीं सकता। इसीलिये शास्त्र ने बार-बार कहा कि परमात्मकृपा से ही अध्यात्म मार्ग अत्यंत सरल है। परमात्मा की कृपा के बिना यह मार्ग अत्यंत दुष्कर है। भगवान् ने भी कहा है कि यह गुह्य से अधिक गुह्य है। अत: यह मेरी शठता, दुष्टता नहीं है। भूख-प्यास से आर्त बच्चा उसे हटाने में स्वयं समर्थ नहीं होता। माँ को याद करता है, रोता है, तो माँ दूध पिलाती है। ऐसे ही मुझ में यह सामर्थ्य ही नहीं कि इस आपत्ति को हटा सकूँ ।।**१०**।।

क्या कारण है कि असमर्थ बालक दु:खी होने पर माता को याद करता है और वह उसका दु:ख दूर करती है? -

जगदम्ब विचित्रमत्र किं परिपूर्णा करुणास्ति चेन्मयि।
अपराधपरम्परापरं न हि माता समुपेक्षते सुतम्।।११।।

हे जगदम्बा! अगर मुझपर आपकी भरपूर करुणा बनी हुई है तो इसमें आश्चर्य क्या है! क्योंकि लगातार अपराध करने में संलग्न सुतकी भी सर्वथा उपेक्षा माता नहीं किया करती।

मुझ में अपराधों की परम्परा है। अज्ञान, अज्ञान के कारण अहंकार, अहंकार से राग-द्वेष, राग-द्वेष से आग्रह और आग्रह के कारण धर्माधर्म - इस प्रकार एक के बाद एक अपराध ही हैं। अत: क्षमा माँग रहा हूँ। अपराध की परम्पराओं में मैं तत्पर हूँ, इसका वर्जन करना मेरे लिये संभव नहीं। परंतु - यदि आपकी मेरे ऊपर परिपूर्ण करुणा हो तो यह असम्भव भी सम्भव हो जाये इसमें आश्चर्य क्या! आप जगत् की माता हैं। जगत् के अन्त:पाती मैं भी हूँ। आपकी वजह से ही तो यह ज्ञान मेरे अंदर आया। यदि कोई दूसरी चीज़, एक परमाणु भी आपसे पृथक सिद्ध हो जाये तो आपकी व्यापकता ही खण्डित होगी। आप सच्चिदानंदरूपिणी हैं। चिद्रूप होने से आप ही मेरे में चेतनता हैं। मेरी माता आप हैं इसमें संदेह नहीं। माँ कभी पुत्र की उपेक्षा नहीं करती। अत: माँ होने से आप मेरी उपेक्षा करेंगी नहीं। पूर्ण करुणा आप में है अत: मेरे दु:ख को दूर करेंगी ही, भले ही मेरे समान कोई पाप करनेवाला न हो।।**११**।।

स्तोत्र का समापन पूर्ण विनय से भगवती को ही समर्पित होते हुये करते हैं -

मत्सम: पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि।
एवं ज्ञात्वामहादेवि यथायोग्यं तथा कुरु।।१२।।

हे महादेवी! मुझ जैसा कोई पापी नहीं पर आप जैसी कोई पाप-नाशक भी नहीं! ऐसा समझकर जैसा उचित हो वैसा कीजिये।

मैं पाप में तत्पर हूँ पर साधारण पापियों से मुझ में खासियत है। कोई जन्मान्ध पहाड़ के जंगली रास्ते पर बिना हाथ के सहारे भटकते हुए गड्ढे में गिरे तो उसका क्या अपराध कहा जाये! पर आँख वाला, रोशनी में राजमार्ग पर चलते हुए किसी किनारे के गड्ढे में ही जा गिरे तो अवश्य दोषी है। इसी प्रकार जो शास्त्रादि से परिचित नहीं, भगवान् को कुछ समझता नहीं, वह दुर्मार्गी बने तो क्षम्य है पर जिसे उत्तम कुल में जन्म मिलने से प्रारम्भ से ही सत्संस्कार सुलभ हों, जिसके पास शास्त्ररूप आँखें भी हों, अत्यन्त प्रेमपूर्वक जिसे गुरु मार्ग भी दिखलाते हों, वह यदि ऊटपटाँग कार्य करे, दुर्मार्गी बने तो उसके दोष में क्या सन्देह ! मुझे तो सारी सुविधायें उपलब्ध रहीं, जानते हुए - दूसरों को समझाने का कार्य करते हुए - भी मैं पाप करता रहा इसलिये मुझ-सा पापी और कौन होगा! किंतु भगवती-सा कोई पाप समायक भी नहीं। संवित् भगवती की ऐसी सामर्थ्य है कि अनन्त जन्मों के अनन्त पाप क्षणभर में ऐसे जला डालती हैं जैसे सरकण्डे के भीतर की डोरी (तूल) दावानल में पड़कर जली हो ! अर्थात् जैसे उस तूल का नामो-निशान नहीं रह जाता वैसे ज्ञानाग्नि के सामने कर्मों का कोई अवशेष नहीं रहता। अत: मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि इस तथ्य का ख्याल रखते हुए जो आपके योग्य हो वही कीजिये, जो मेरे योग्य समझें वही कीजिये। आप महादेवी हैं, सब कुछ आपके अधीन है, आप किसी के अधीन नहीं अत: मेरे कर्मों का भी आपको विचार नहीं करना पड़ेगा केवल योग्यता देखकर आप कर सकती हैं। आपकी असीम सामर्थ्य को व्यक्तकर मेरा उद्धार कीजिये यही मेरा निवेदन है।।१२।।

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम्

प्रवचन

प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्दगिरिजी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

29 11 से

१ ११३ ौर ६ -१८ ०७-९३ ॐ
नम: शिवाय ५५और

प्र. ?
उ.
भगवान की आराधना
कै 10 से करूँ

यंत्र हैं लानेवाला तो वह परमात्मा है यह न जानेंगे
तब तक काम-क्रोधादि सुख-दु:ख ह
पूर्णे मनसि संपूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवै:

७ ५५ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
ऽ ऽ
17ऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
२-०-८९ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’
‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’

‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’
‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’ ‘’
३ ९ ९ ८९७ १ ४ ५ ६ ११ क ७ ८
१३ १५ ९ ९ २५-३० ।।क
१२ ३४ ५ ७ १०८ ९
५ ६ २ ०८ ३४४८४६ ।।४।।क
६ ७ ८ २५
ॐ नम: शिवाय २३/९ १ ८

ककि
।।५०।।५१
८. ।।४७।। ।।४९।।
श्रीकृष्णजन्माष्टमी
३ ४ ७
३६ १ ८

१ से

ગુજરાત